श्रीमद् भागवत में वर्णित सामाजिक मूल्यों का अध्ययन

(बुन्देलखण्ड विश्व विद्यालय झाँसी की पी-एच. डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

卐

वर्ष १९९८
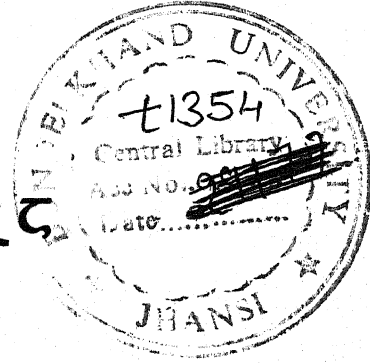
शोध पर्यवेक्षक-
डॉ. गदाधर त्रिपाठी
रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊरानीपुर (झाँसी)

शोधार्थी-
श्रीमती अंतिमा श्रीवास्तव
कटरा नुनियन, बाँदा

श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊरानीपुर (झाँसी)

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि "श्रीमद् भागवत में वर्णित सामाजिक मूल्यों का अध्ययन" विषय पर यह शोधकार्य निर्धारित समय तक रहकर श्रीमती अनामिका श्रीवास्तव ने मेरे निर्देशन में पूर्ण किया है। यह इनकी अपनी मौलिक दृष्टि का परिणाम है। मैं इनके सतत् साफल्य की कामना करता हूँ।

(डा० गदाधर त्रिपाठी)

"निर्देशक"

भूमिका

काव्य कवि कल्पना और समाज की यथार्थ रूपरेखा का ऐसा मिश्रण प्रस्तुत करते हैं जो अनुपमेय और आकर्षक होता है । इसीलिए जहाँ काव्य से एक ओर आनन्द की अनुभूति होती है,वहीं दूसरी ओर इससे समाज में जीवन-व्यवहार का ज्ञान भी होता है । इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो पुराण साहित्य,भारतीय साहित्य-परम्परा में महत्वपूर्ण हैं । इनमें जहाँ एक ओर अनुपमेय कल्पनाओं के माध्यम से कथाओं का संकलन किया गया है, वहीं दूसरी ओर इनमें जीवन-व्यवहार के अनूठे उदाहरण भी भरे पड़े हैं । इसमें भी श्रीमद्भागवत तो महत्त्वपूर्ण पुराण है जो भगवान् श्री कृष्ण के विविध चरित्रों का आख्यान करने के साथ-साथ समाज के चरित्र और व्यवहार के स्वरूप को भी प्रस्तुत करता है । इसीलिए मैंने श्रीमद्भागवत में वर्णित सामाजिक मूल्यों के अध्ययन को अपने शोध का विषय बनाया और इसे सात अध्यायों में विभक्त कर इस कार्य को पूर्ण किया ।

इस रूप में यह शोध प्रबन्ध अपने प्रथम अध्याय में तो विषय की रूप-रेखा प्रस्तुत करता है और दूसरे अध्याय में पुराणों के सामान्य परिचय के साथ-साथ श्रीमद् भागवत का विशेष परिचय प्रस्तुत करता है । इस अध्याय में पुराणों के समय के विषय में और उनके रचयिता के विषय में भी विचार किया गया है ।

शोध प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में पुराण-वर्णित समाज की रूपरेखा दी गई है और इसमें यह देखा गया है कि इसमें देव,दानव असुर के साथ-साथ अन्य जातियों का भी वर्णन है । जाति और वर्णों के वर्णन के साथ-साथ इसमें वर्णों तथा आश्रमों का चित्रण किया गया है तथा इनके लिए जिस व्यवहार तथा आदर्शों की कल्पना की गई है,यह भी इसमें समालोचित है ।

इसी तारतम्य में इस शोध प्रबन्ध में श्रीमद् भागवत में वर्णित पारिवारिक स्थिति का समालोचनात्मक अध्ययन भी किया गया है और यह देखा गया है कि श्रीमद् भागवत पुराण में संयुक्त परिवार तथा वैयक्तिक परिवार समान रूप से होते थे । संयुक्त परिवारों में विशेष रूप से वे परिवार थे , जो राजपरिवार कहे गए हैं और वैयक्तिक परिवार सामान्य परिवार अधिक रूप में तब विद्यमान थे ।

प्राचीन समय में मनुष्य की उदात्त जीवन शैली को बहुत महत्व दिया जाता था । इस जीवन शैली के अनुसार तब संस्कारों का प्रचलन था । और श्रीमद् भागवत पुराण में प्रायः सभी मुख्य संस्कारों का कथन किया गया है । कौन संस्कार किस रूप में करना चाहिए,इसका वर्णन इस पुराण में विस्तार से है और उसी प्राचीन परम्परा का अनुसरण होता हुआ दिखाई देता है,जो परम्परा पुराणों के रचना के पूर्व से चली आ रही थी ।

इतना ही नहीं श्रीमद् भागवत पुराण में उस समय के समाज में प्रचलित खान-पान, वेश-भूषा और आर्थिक स्थिति का भी वर्णन किया गया है । यह सब वहाँ के अनुरूप और समीक्षा की दृष्टि के साथ-साथ इस शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया है ।

यह शोध प्रबन्ध श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊरानीपुर के रीडर एंव संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष के निर्देशन में तैयार किया गया है । उनके सहयोग और कृपा के लिए मैं अपना आभार व्यक्त करती हूँ । पं0 श्री रामावतार त्रिपाठी तथा श्री कमलेश शर्मा की भी मैं विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने इस कार्य को पूरा करने में मेरा यथोचित सहयोग प्रदान किया । मेरे पति श्री शिवप्रसाद श्रीवास्तव तो एक प्रकार से इस कार्य के मूल में ही हैं जिनके सतत् सहयोग और प्रेरणा का यह फल है । इस शोध प्रबन्ध के टंकक श्री राकेश अग्निहोत्री भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने स्वच्छता और शुद्धता के साथ इसे टाइप किया ।

शोधार्थी

{ श्रीमती शान्तमा श्रीवास्तव }

विषय सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

{श्रीमद् भागवत पुराण का सामान्य परिचय}

तृतीय अध्याय

{ श्रीमद् भागवत पुराण में वर्णित समाज }

चतुर्थ अध्याय

॥श्रीमद् भागवत में वर्णित पारिवारिक मूल्य ॥

1· परिवार व्यवस्था :-

संयुक्त परिवार, वैयक्तिक परिवार

2· वर्गीय परिवार :-

पुरुष, पिता, पति, पुत्र, नारी, माता, पत्नी, प्रेयसी, दासी

3· सूर्य वंश का विशिष्ट वर्णन

4· चन्द्रवंश

पंचम अध्याय

॥ आलोच्य पुराण में वर्णित संस्कार ॥

सिद्धान्त तथा वर्गीकरण, गर्भाधान संस्कार, पुंसवन संस्कार, जातकर्म संस्कार, नामकरण संस्कार, वेदारम्भ संस्कार, समावर्तन संस्कार, विवाह संस्कार, अन्त्येष्टि संस्कार, वानप्रस्थ संस्कार, संन्यासाश्रम, शकुन तथा अपशकुन, अन्य मांगलिक कार्य ।

षष्ठ अध्याय

॥ श्रीमद् भागवत में वर्णित समाज की आर्थिक व्यवस्था ॥

1· जीविकोपार्जन के साधन

2· खान पान

3· वेशभूषा

4· आभूषण

5· मनोरंजन

सप्तम अध्याय

॥आलोच्य पुराण में वर्णित नैतिक मूल्य एंव वर्जनाएँ ॥

1· नैतिक मूल्य:- सत्य, अहिंसा, सदाचार, विवेक, धर्म, क्षमा

2· वर्जनाएँ :- बालहत्या, चीरहरण, वेणुगीत, इन्द्रमखभंग

उद्धृत

ग्रन्थ संकेत सूची

1.	अथर्व०	अथर्ववेद
2.	अथर्व० (2)	अथर्ववेद (द्वितीय खण्ड)
3.	अ० शा०	अभिज्ञानशाकुन्तलम्
4.	आ०गृ०सू०	आश्वलायनगृह्यसूत्र
5.	आ० रा०	आनन्द रामायण
6.	ई०द्वा०उ०	ईशादिद्वादशोपनिषद्
7.	ऋग्	ऋग्वेद
8.	ऐ० उ०	ऐतरेयोपनिषद्
9.	का० क०	कादम्बरी कथामुखम्
10.	कु० सं०	कुमार संभवम्
11.	कू० पु०	कूर्मपुराणम्
12.	कौ० अ०	कौटिलीय अर्थशास्त्र
13.	गो० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण
14.	छान्दो	छान्दोग्योपनिषद्
15.	जै० सू०	जैमिनि सूत्र
16.	तै०सं०	तैत्तरीय संहिता
17.	तै०सं०	तैत्तरीय संहिता
18.	ध० इ० (1)	धर्म शास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग)
19.	ध० इ० (4)	धर्म शास्त्र का इतिहास (चतुर्थ भाग)
20.	ना० पु०	नारद पुराण
21.	प० पु०	पद्म पुराण

22.	पा० यो० प्र०	पातञ्जलयोग प्रदीप
23.	पा० गृ० सू०	पारस्कर गृह्यसूत्र
24.	पु० वि०	पुराण विमर्श
25.	पु० त० मी०	पुराण तत्व मीमांसा
26.	प्र० उ०	प्रश्नोपनिषद्
27.	प्रा० भा०	प्राचीन भारत
28.	प्रा० भा० भू०	प्राचीन भारतीय वेशभूषा
29.	पौ० को०	पौराणिक कोश
30.	फू० ए० इ०	फूड एण्ड ड्रिंक इन एन्शियन्ट इण्डिया
31.	ब्र०वै०	ब्रह्मवैवर्त पुराणम्
32.	ब्रह्मा०	ब्रह्माण्ड पुराण
33.	बृह०	बृहदारण्यकोपनिषद् [शांकर भाष्य]
34.	बौ०ध० सू०	बौधायन धर्मसूत्र
35.	भ० गी०	श्रीमद् भगवद्गीता
36.	भ० पु०	भविष्य पुराण
37.	भ० पु० अनु०	भविष्य पुराण एक अनुशीलन
38.	भा० पु० प्रे०	श्रीमद्भागवत पुराण में प्रेम तत्व
39.	भा० म० पु०	श्रीमद् भागवत महापुराण
40.	म० भा०	महाभारत
41.	म० पु०	मत्स्य पुराण
42.	म० पु०	मत्स्य पुराण कल्याण विशेषांक
43.	म०पु०	मत्स्य पुराण कल्याणाङ्क
44.	म० स्मृ०	मनु स्मृति

46.	यजु०	यजुर्वेद
47.	या० स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
48.	रघु	रघुवंशमहाकाव्यम्
49.	ब्र॰वै॰ सां० अ०	ब्रह्मवैवर्तपुराण सांस्कृतिक विवेचन
50.	वा० (5)	वाचस्पत्यम् (भाग-5)
51.	वा० पु०	वायु पुराण
52.	वा० पु०	वायु पुराणम्
53.	वि० पु० (1)	विष्णु पुराण (प्रथमखण्ड)
54.	वि०पु० (1)	विष्णु पुराण (प्रथम खण्ड)
55.	वी० प्र०	वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश
56.	वै० भा० सं०	वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति
57.	वै० सा० सं०	वैदिक साहित्य संस्कृति और दर्शन
58.	स्क०	स्कन्द पुराण
59.	स० प्र०	सत्यार्थ प्रकाश
60.	सं० श० कौ०	संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ
61.	श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
62.	श्वे० उ०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
63.	शु० यजु०	शुक्ल यजुर्वेद
64.	शु० नी०	शुक्रनीतिसार
65.	षो० वि०	षोडश संस्कार विधि
66.	हि० स०	हिन्दू सभ्यता
67.	हि० सं०	हिन्दू संस्कार

प्रथम अध्याय

(रूप रेखा)

प्रथम अध्याय

1. विषय प्रवेश
2. अध्ययन का उद्देश्य
3. अध्ययन का महत्त्व
4. पूर्व कार्यों का संकेत

प्रथम- अध्याय

विषय प्रवेश

वैदिक काल से ही विचार की दो धारायें स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। एक विचारधारा वेदधारा है और दूसरी विचारधारा पुराणधारा है। वैदिक धारा अपने प्राचीनकाल से ही आस्तिक और आस्थावान धारा रही है और इस धारा में यज्ञीय परम्परा जुड़ने के कारण यह एक विशिष्ट देवता को अपना आराध्यमानकर उसकी प्रसन्नता सम्पादन के लिए हवनादि कर्म करती रही है। इसके विपरीत पुराणकालीन विचारधारा एक ऐसे कथानकों और आख्यानकों का संग्रह प्रस्तुत करती है, जो मूलरूप से सामान्य जन में मनोरंजन और कौतूहल की सृष्टि करती है तथा इसी माध्यम से जन सामान्य को संस्कारित भी करती है। यद्यपि इस माध्यम से यह कहा जा सकता है कि वेदविचारधारा की आस्था और देवपूजन की परम्परा पौराणिक विचारधारा में भी आ गई और इस रूप मे इन दोनों विचार धाराओं में मूल रूप से कोई अन्तर नहीं है किन्तु फिर भी इन दोनों में एक सूक्ष्म अन्तर यह देखा जा सकता है, कि वैदिक विचारधारा पूरी तरह से यज्ञाश्रित है और यज्ञ के माध्यम से ही अपनी आस्था को व्यक्त करती है किन्तु पुराणपरम्परा में यज्ञ विधानों को उतना महत्त्व न देकर भगवत् चरित्रों के आख्यानों के माध्यम से लोक रंजन का कार्य प्रमुख रूप से किया गया। किन्तु इनका यह लोक रंजन भी सतही न होकर गंभीर अर्थ का द्योतक है और इससे समाज को एक विशिष्टदिशा भी मिलती है।

§1§ अध्ययन का उद्देश्य

क्योंकि पुराण साहित्य केवल लोक रंजन पर ही आधारित नहीं है और इसका उद्देश्य केवल भगवान् के रूप में कथा का कथन मात्र भी नहीं है अपितु यह एक ऐसा भारतीय वाङ्मय है जो भारतीय वाङ्मय में अपना पृथक् महत्त्व रखता है।

पुराणेतिहास के विषय में यह भी कहा जाता है कि ये अपने प्रारम्भ काल में केवल एक विद्या विशेष थे। इनके विशिष्ट ग्रन्थ तब सम्भवतः क्रम बद्ध रीति से या कि ग्रन्थों के रूप में ग्रथित नहीं हुए थे। तब इनका मौखिक प्रचार-प्रसार ही था और ऋषि तथा आचार्य अपने स्मरण के आधार पर विविध कथानकों का आख्यान समाज में करते थे। वे तब परम्परा के रूप में एक वक्ता से दूसरे वक्ता के रूप में चलते रह रहे थे। ऋक् सूक्त, यजुष् के अनुवाक् साम के दशत और अथर्वाङ्गिरस के पर्व इसलिए प्राचीन हैं क्योंकि तब तक इनका ग्रथन ग्रन्थों के रूप में हो चुका था किन्तु पुराणों का प्राचीन काल या कि प्रारम्भिक रूप इस विषय में मौन है। आचार्य बाणभट्ट और कौटिल्य ने अवश्य यह संकेत किया है कि पुराणों के श्रवण करने का प्रचलन उस समय प्रारम्भ हो चुका था ।[1]

- - - - - - - - - - - - - - -

1· कदाचिच्छास्त्रालापेन, कदाचिदाख्यानकाख्यायिकेतिहासपुराणाकर्णनेन, कदाचिदालेख्यविनोदेन· · · · ·। का० , पृ० 104

पश्चिममितिहासश्रवणे । पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः । कौ० अ०, पृ० 19

पुराणों का प्रवचन कौन करता था और इसे कौन सुनता था, इस विषय में भी इतिहासकार अनेक प्रकार के मतमतान्तर उपस्थित करते हैं। कहा यह जाता है कि पुराणों के प्रवचन का दायित्व प्राचीन समय में सूतों का था। सूत ही इधर-उधर भ्रमण करते हुए पुराणों की कथाएँ कहा करते थे। इन सूतों का इतना अधिक महत्त्व था कि प्रायः ऋषिगण भी इनके पास आकर पुराण के विविध आख्यानों के प्रति अपनी जिज्ञासाएँ प्रकट करते थे। सूत कौन थे और उनका क्या स्तर था, इस पर भी यत्किंचित् प्रकाश डाला गया है। आचार्य मनु ने यह संकेत किया है कि यह एक ऐसी प्रतिलोमज जाति थी जो क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी माता से उत्पन्न होते थे।[1] दूसरे एक अन्य सन्दर्भ में यह कहा गया है कि सूत राजवंशों से सम्बद्ध होते थे।[2] इसलिए इन सूतों के द्वारा जिन पुराणों का प्रवर्तन किया गया, वे यदि राजवंशों के इतिहास अथवा उनकी वंश परम्परा को विस्तृत रूप से निरूपित करते हैं तो यह सहज और स्वाभाविक है। आचार्य बल्देव उपाध्याय का यह मत है कि अति प्राचीनकाल में वेदज्ञ ब्राह्मण पुराणों से सम्बद्ध नहीं हुए थे और न ही तब ये ब्राह्मण पुराणों का प्रवचन करते थे।[2]

- - - - - - - - - - - - - -

1. वैश्यान्मागधवैदेही क्षत्रियात्सूत एव तु।
   प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यपसदास्त्रयः ।। म० स्मृ०, पृ० 430

2. वा० पु० 1/32

3. पु० वि०, पृ० 56

पुराणों के अवतरण के सम्बन्ध में भी अनेक ग्रन्थों में अनेक प्रकार के संकेत हैं। इस सन्दर्भ में यह तथ्य स्मरण करने योग्य है कि पुराणों के विकास के पूर्व इनकी दो प्रकार की धाराएँ थीं। एक पुराणधारा वह थी जो महर्षि वेद व्यास के पूर्व चल रही थी औरजो भले ही लिखित परम्परा के रूप में प्रतिष्ठित न हुई थी किन्तु कर्ण- परम्परा के रूप में वह विद्यमान थी। दूसरी पुराण की परम्परा वह थी जो भगवान् व्यास के पश्चात्काल में प्रतिष्ठित हुई थी और जिस परम्परा में लिखित सामग्री उपलब्ध थी। महर्षि व्यास का यह महनीय कार्य था कि उन्होंने पुराणों की स्थिति को एक आधार दिया और उनके बाद पुराणों की एक व्यवस्थित धारा स्पष्ट हो सकी ।

इस कथन के प्रमाण के रूप में कुछ पुराणों के वे सन्दर्भ दिए जा सकते हैं जिनमें यह कहा गया है कि पुराण शास्त्र ऐसे हैं जिनका स्मरण ब्रह्मा ने सर्वप्रथम किया। यह शब्द पुराणवाचक है और इसका विस्तार शतकोटि परि-मित है। यह कथन और अधिक विस्तृत तब हो जाता है जब यह कहा जाता है कि इनके मुख से वेद भी निःसृत हुए[1]।

पुराणों का फलक कितना व्यापक और विस्तृत है,इस सम्बंध में पुराण शब्द की जो व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं,वे भी इस अर्थ में इसकी व्यापकता

1.पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटि प्रविस्तरम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।।

म0पु0 3/3-4,वा0पु01/54

पुराणों का फलक कितना व्यापक और विस्तृत है, इस सम्बन्ध में पुराण शब्द की जो व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं वे भी इस अर्थ में इसकी व्यापकता का अंकन करती हैं। जैसे एक स्थान पर यह कहा गया कि यह पुराकालिक है और यह शास्त्र परम्परा का द्योतक है। इस अर्थ में यह ग्रहण किया गया कि यह शास्त्र पुरातन परम्परा का द्योतक है।[1] इसी प्रकार यह कहा गया है कि सर्व प्रथम इसका कथन करने के कारण यह पुराण है।[2] इतना ही नहीं, यह तक कहा गया है कि कल्पान्तर में पुराण एक था। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत था और इसके विस्तार की कोई सीमा नहीं थी क्योंकि यह देवलोक तक में प्रतिष्ठित था। केवल समय की परिवर्तन की यह विलक्षणता ऐसी हुई कि इतने बड़े पुराण साहित्य का ग्रहण भली प्रकार न कर पाने से यह बाद में संकुचित होकर रह गया और पुराण साहित्य का विस्तृत फलक संक्षिप्त होकर ग्रन्थों के रूप में अस्तित्व में आया। इस विस्तृत पुराण साहित्य को भगवान् विष्णु के अवतार वेद व्यास जी ने प्रथमतः चार लाख श्लोकों में संक्षिप्त कर पुराण शास्त्र के रूप में ग्रथित कर दिया और बाद में लौकिक मनुष्यों की क्षमता का आकलन कर इसे अठारह भागों में विभक्त कर दिया जिससे बाद की परम्परा में अठारह पुराण प्रतिष्ठित हुए।

- - - - - - - - - - - -

1· पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम् । प० पु० 5/2/53

2· यस्मात् पुरा ह्यनक्तीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।

वा० पु० 1/103; 103/55

3· पु० वि०, पृ० 39

इन पुराणों में मुख्य रूप से भगवान् के विविध अवतारों की कथाएँ हैं, राजाओं के वंश और उनके वंशानुचरित का कथन भी किया गया है। किन्तु इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि इन पुराणों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में विचार किया गया है और कोई भी पुरुष चतुर्वर्ग की प्राप्ति कैसे करे- यह भी वर्णित है। यही देखकर यह विचार उत्पन्न हुआ है कि इन सभी महत्त्वपूर्ण पुराणों का पर्यालोचन किया जाए और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के सम्बन्ध में जो इन पुराणों में कहा गया है उसका पर्यालोचन किया जाए तथा इसका यथा स्थान अंकन किया जाए।

इन पुराणों में इसके अतिरिक्त तत्कालीन समाज का चित्रण भी प्राप्त है। समाज की तब जो स्थिति थी और उसमें नैतिक तथा अनैतिक आचार-व्यवहार के जो सन्दर्भ थे, उनका भी पुनरावलोकन किया जाए तथा उस समय के समाज का जो आदर्श स्वरूप था उसका विवरण देकर आज के समाज के लिए उसके उपभोग और महत्त्व कोरेखांकित किया जाए। कहा यह जाता है कि तब का समाज अपेक्षाकृत दार्शनिक पृष्ठभूमि पर जीवन रत था, इसलिए उस समय के जीवन में व्यक्ति के पास एक विचार की पृष्ठभूमि थी। इस सबका पुनरावलोकन इस कार्य के माध्यम से किया जाए- यही इस कार्य का उद्देश्य है।

§2§ अध्ययन का महत्त्व

यद्यपि भारतीय परम्परा में वेद अत्यधिक महत्त्व शील और समादर्य हैं तथापि उनका अर्थ जानने के लिए पुराणों के महत्त्व को स्थान- स्थान पर प्रतिपादित किया गया है। जहाँ वेदों की व्याख्या की आवश्यकता होती है, वहाँ पर अन्य स्रोतों की व्याख्या की अपेक्षा पुराणों द्वारा की गई व्याख्या अधिक महत्त्वपूर्ण तथा आदर्श मानी जाती है। यद्यपि निरुक्त, ब्राह्मण ग्रन्थ, प्रातिशाख्य, श्रौतसूत्र, कल्पसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र सभी वेदाङ्ग वेदार्थ के प्रकाशक ही हैं किन्तु इतिहास और पुराण वेदों की जो व्याख्या करते हैं वह व्याख्या सरल और सामान्य व्याख्या होती है। इसलिए यह कहा गया है कि इतिहास और पुराण को जानना परम आवश्यक है क्योंकि जो इतिहास और पुराण को ठीक से नहीं जानता है, वह वेदार्थ ठीक से नहीं जान सकता। यहीकारण है कि वेद उनसे डरते हैं जो अल्पश्रुत हैं क्योंकि जो अल्पश्रुत वेदों का अर्थ करेंगे, वे निश्चय ही ठीक से उनका अर्थ नहीं कर सकेंगे। अत: अल्पश्रुत से वेद डरते हैं।[1] यही कारण है कि वेद भी पुराण-व्याख्या पर आधारित हैं और पुराणों द्वारा व्याख्या सरल- सहज ढंग से किए जाने के कारण वे महत्त्वपूर्ण हैं।

- - - - - - - - - - - - - - -

1. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
   बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।।
   म0भा0 1/1/ 267

इस विशेषता के अतिरिक्त पुराणों का एक वैशिष्ट्य यह है कि ये लोकवृत्त से अधिकतम रूप में जुड़े हैं। लौकिक जीवन और व्यवहार तथा इसकी संगति एवं असंगति का विवेचन अपनी कथा के माध्यम से करना इन पुराणों का एक अति विशिष्ट स्वरूप है। यही कारण है कि वेद, उपनिषद् तथा वेदाङ्ग परम्परा की अपेक्षा पुराण परम्परा सामान्य जन से अधिक रूप में जुड़ी है और यह अपने प्रतिपादन से अधिकतम लोगों को प्रभावित भी करती है।

पुराण परम्परा की एक और विशेष अभिरूचि यह है जो सामान्य जन को अपनी ओर आकर्षित करती है, वह यह है कि यह भगवान् के प्रति आस्था रखने वालों के लिए उनके ऐसे चरित्रों का व्याख्यान करती है जो रूचिकर हैं, शान्तिदायक हैं और भक्तिभाव को दृढ़ करने वाले हैं। पुराणों में ईश्वर के अनेकानेक अवतार कहे गए हैं और उनके अद्भुत आख्यान समाहित हैं। इन आख्यानों में जहाँ भगवान् की अपूर्व और अनुमेय शक्ति का वर्णन है, वहीं उनकी दयालुता और करूणा भी कही गई है। इससे सामान्य जन जहाँ भगवान् के आश्चर्यकर रूप के आख्यान को सुन कर चकित होता है वहीं वह उनकी करूणा और दया के प्रति समर्पित तथा आश्वस्त होता है। यह पुराणों के प्रति सामान्य जन का आकर्षित होने का एक और कारण है।

पुराणों के महत्त्व के विषय में स्वयम् पुराणकार ही इतना कुछ कहते हैं कि उसी से यह ज्ञात हो जाता है कि ये पुराण और इन पर किया गया

कार्य कितना महत्वपूर्ण है। स्कन्द पुराण में तो यह कहा गया है कि वेद विद्या का निमार्ण स्वयम् ईश्वर ने किया है। सभी शास्त्रों के निर्णय रूप में तीन विद्याएँ हैं किन्तु ब्रह्मा के अनुशासन से पुराण पंचम वेद के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वे इन्हीं पुराणों में प्रतिष्ठित हैं, यह भी शास्त्रकार कहते हैं। आचार्य पुराणों की महत्ता का आख्यान इस रूप में करते हैं कि जो वेदों में स्पष्ट नहीं हो सका, वह स्मृतियों में स्पष्ट रूप से जाना जा सका। जो वेदों और स्मृतियों से भी स्पष्ट रूप से नहीं जाना जा सका, वह पुराणों के द्वारा सरल और सरस रूप में निरूपित कर दिया गया।[1] यही कारण है कि सरलता और सरसता से पुराण सर्व सुलभ बन गए और इन्हें पंचम वेद के रूप में भी कह दिया गया ।

\- - - - - - - - - - - -

1\. आत्मनो वेदविद्या च ईश्वरेण विनिर्मिता ।
शौनकीया च पौराणी धर्मशास्त्रात्मिका तु या ।।
तिस्त्रो विद्या इमा मुख्या: सर्वशास्त्रविनिर्णये ।
पुराणं पंचमो वेदइति ब्रहमानुशासनम् ।
वेदा: प्रतिष्ठिता: सर्वे पुराणे नात्र संशय: ।
आत्मा पुराणं वेदानां पृथगङ्गानि तानि षट् ।।
यन्न न दृष्टं हि वेदेषु तद् दृष्टं स्मृतिभि: किल ।
उभाभ्यां यन्न दृष्टं हि तत् पुराणेषु गीयते ।।
पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रहमणा स्मृतम् ।।

स्क0 रेवा0 1/17-18; 22·23

एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि जिस प्रकार से गंगा में स्नान करने पर सभी प्रकार के पाप-ताप दूर हो जाते हैं, उसी प्रकार से यदि निष्ठापूर्वक पुराण का श्रवण किया जाए तो जीवन के सभी पाप-ताप धुल जाते हैं।[1] सभी वेदों का ज्ञान इन पुराणों में समाहित है। तर्क, वाद, नीति सभी कुछ जानने के हेतु पुराण हैं। ये पुराण ही ऐसे हैं जो व्यक्ति को इस लोक में और अपर लोक में सुखी करते हैं। यदि कोई विधान पूर्वक पुराणों को सुनता है अथवा विधानपूर्वक कोई पुराणों को कहता है तो वह इस संसार में पुन: जन्म नहीं लेता है। इस रूप में जहाँ भक्तिपूर्वक पुराण का श्रवण करने पर पाप-ताप दूर हो जाते हैं वहीं पर यह भी कहा गया है कि पुराण का श्रवण करने पर व्यक्ति इस लोक में और अपर लोक में सुखी हो जाता है। यह भी पुराणों की महत्ता का स्वरूप है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. यथा पापानि पूयन्ते गंगावारिविगाहनात् ।
   तथा पुराण श्रवणात् दुरितानां विनाशनम् ।।
   x x x x
   सर्ववेदार्थसाराणि पुराणानीति भूपते ।
   तर्कस्तु वाद हेतु: स्यान्नीतिस्त्वैहिकसाधनम् ।।
   पुराणानि महाबुद्धे इहामुत्र सुखाय हि ।
   अष्टादश पुराणानि य: श्रृणोति नरोत्तम: ।
   कथयेद् वा विधानेन नेह भूय: स: जायते ।। ना० पु० 1/1/61-62

पुराणों का एक विशेष महत्त्व यह भी है कि ये त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम के साधक हैं। पुराणों का अध्ययन, मनन और श्रवण धर्म में साधक होता है, अर्थ की पूर्ति करता है और काम का साधक बनता है। पुराणों के माध्यम से ही सर्व शास्त्रों में प्रवृत्ति होती है।[1]

इस रूप में यह कहा जा सकता है कि पुराण साहित्य धर्म के रूप में मानवीय नैतिकता का मेरू है तो अर्थ की प्राप्ति में सहायक होने से वह अर्थ-शास्त्र का प्रतिष्ठापक है। काम की पूर्ति में साधक होने से पुराण काम शास्त्र का भी प्रतिपादक है क्योंकि संस्कृत वाङ्मय में काम शास्त्र एक ऐसा शास्त्र है-जो संयम और सुचरित के साथ जीवन को एक रसात्मक गति देता है। इस रूप में पुराण अन्य साहित्य की अपेक्षा महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

- -

1. पुराणमेकमेवासीदस्मिन् कल्पान्तरे नृप ।
   त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटि प्रविस्तरम् ।।
   स्मृत्वाजगाद च मुनीन् प्रति देवश्चतुर्मुखः ।
   प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां पुराणस्ययाभवत्ततः ।
   स्क0 रेवा0 1/23-24

   प्रवृत्ति सर्वशास्त्राणां पुराणस्याभवत्तदा ।
   कलिनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य तदाविभुः ।।
   पद्म सृष्टि खण्ड, अ0 1

   पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ ।
   त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटि प्रविस्तरम् ।। म0 पु0, अ0 53

पुराणों का जो लक्षण किया जाता है उसके अनुरूप भी पुराण साहित्य का फलक बहुत विस्तृत और अपरिमित है। इस साहित्य में जो पुराण का लक्षण दिया गया है उसके अनुसार पुराण में सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित का वर्णन होता है।[1] पुराण का यह पंचलक्षण इतना अधिक व्यापक है कि इन विषयों के अतिरिक्त अन्य कुछ बचता ही नहीं है। इस वर्णन में वंश से अभिप्राय उन राजाओं से है जिनकीभूत,भविष्य और वर्तमानकालिक परम्परा है। इस दृष्टि से देखा जाए तो राजवंश एक ऐसी परम्परा के प्रतिष्ठ-पक होते हैं जिनके आधार पर समाजधर्म और राजधर्म भली प्रकार चलता है। इसका वर्णन पुराणों में होना महत्त्वपूर्ण है। इसी के साथ ही पुराणों में जब वंशा-नुचरित का कथन किया जाता है तो यह कहा जाता है कि इससे अभिप्राय राज-वंशों के अतिरिक्त श्रेष्ठ महापुरुषों के चरित वर्णन से भी है जिनके चरित्र से सामान्य लोक प्रकाश पाता है। इसका वर्णन भी पुराणों की पुराणवत्ता के लिए महत्त्वपूर्ण है।[2]

- - - - - - - - - - - - - -

1. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
   वंशयानुचरितं चेति पुराणं पंचलक्षणम् ।।

   x x x x

   सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशमन्वन्तराणि च ।
   सर्वेष्वेतेषु कथ्यन्ते वंशानुचरितं च यत् ।। वि0 पु0 ‌§1‌§,पृ0 39।

2. राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः ।
   वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये ।। भा0 म0 पु0 , पृ0 743

पुराणों के द्वारा वर्णित विषय- विस्तार को लेकर एक अन्य कथन, जो अतिमहत्व पूर्ण है, उसमें यह कहा गया है कि पुराणों में सृष्टि, प्रकृति संहार, धर्म और मोक्ष के प्रयोजन आदि का वर्णन विस्तार से किया जाता है।[1] इस कथन से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों में जिन विषयों का वर्णन है वे इस रूप में महत्त्वपूर्ण हैं कि उनका व्यापक प्रभाव मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन पर है और उसी व्यापकता से पूरा का पूरा समाज अभिभूत होता है।

श्रीमद् भागवतकार एक स्थान पर यह निरूपित करते हैं कि पुराण ऐसी विषय वस्तु का विश्लेषण करते हैं जो और अधिक व्यापकता का द्योतन करती है। जैसे इनमें न केवल पंच विषय- वस्तुओं का ही समावेश माना गया है अपितु सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, अन्तराणि, वंश, वंशानुचरित, संस्था हेतु तथा अपाश्रय का सन्निवेश भी इन पुराणों में किया गया है जिससे इन पुराणों में वर्णित विषय वस्तु का क्षेत्र व्यापक हो गया है और इन जैसी विषय वस्तु अन्य किसी भी ग्रन्थ- परम्परा में संकलित नहीं की गई है। इस रूप में भी पुराण एक महत्त्वशील परम्परा के रूप में उपादेय शास्त्र हो गए हैं।

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. सृष्टि- प्रवृत्ति-संहार-धर्म- मोक्षप्रयोजनम् ।
   ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तं पुराणं पंचलक्षणम् ।।
   उद्धृत पु० वि० पृ० 127

2. सर्गश्च विसर्गश्च वृत्ति रक्षान्तराणि च ।
   वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ।।
   भा० म० पु० 743

मनुष्य के लिए धर्म अथवा धर्म नीति का पथ ऐसा है, जिसके बिना जीवन-कर्म को संगत नहीं कहा जा सकता। श्रीमद्भागवत में जब अवतार की उद्देश्यभूमि का कथन किया जाता है तो यही कहा जाता है कि विभु स्वरूप ईश्वर का अवतार केवल राक्षसों के बध के लिए ही नहीं होता है अपितु मर्त्य को शिक्षित करने की दृष्टि से इनका अवतार होता है- मर्त्यावतार: खलु मर्त्यशिक्षणं रक्षो वधायैव न केवलं विभो:।[1] इस रूप में पुराण जब ईश्वर के अवतार की कथा कहते हैं तब वे केवल विश्वास और आस्था का स्थापन ही नहीं करते अपितु मानवीय मर्यादा के लिए एक ऐसा आधार देते हैं जिस आधार पर खड़े होकर व्यक्ति और समाज परिष्कृत हो सकता है। इसलिए पुराण साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साहित्य है और इसीलिए इस साहित्य ने समाज को इतना अधिक अपनी ओर आकर्षित किया है, जितना अन्य कोई नहीं कर सका। इसी दृष्टि से यह कार्य महत्त्वपूर्ण और अपेक्षित हो सका है।

- -

1. नृणां नि:श्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मन: ।। भा० म० पु०, पृ० 534

x x x x

जज्ञे पुन: पुनर्विष्णुर्यज्ञे च शिथिले: प्रभु: ।
कर्तुं धर्मव्यवस्थानम् अधर्मस्य च नाशनम् ।। वा० पु० 98/69

x x x x

असतां निग्रहार्थाय धर्मसंरक्षणाय च ।
अवतीर्णो मनुष्याणामजायत यदुक्षये ।। म० भा० वन० 272/71

(3) पूर्व कार्यों का संकेत

श्री मद्भागवत् की, इतिहासकार द्विधा साम्प्रदायिक प्रवृत्ति का संकेत करते हैं। प्रथम प्रवृति भगवान् विष्णु से प्रारम्भ होकर ब्रह्मा, नारद, व्यास शुक, परीक्षित तथा सूत और शौनक तक की है। द्वितीय सम्प्रदाय प्रवृति के विषय में यह कहा जाता है कि इस रूप में केवल मैत्रेय-विदुर संवाद ही प्राप्त है। इससे इस महाग्रन्थ का विस्तार तो परिलक्षित होता है किन्तु इससे इसमें न तो कोई भेद दृष्टि बनती है और न कोई न्यूनता का आधार दिखाई देता है। भगवान् विष्णु के प्रवचन रूप जो चतु: सूत्र हैं वे भगवान् के द्वारा उपस्थापित श्रीमद् भागवत के आद्य चतुस्सूत्र हैं। बाद् में ये चतुस्सूत्र विस्तृत होते गए और अन्तिम रूप से अष्टादश साहस्त्री के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

श्रीमद् भागवत में ही यह सन्दर्भ आया है कि पहले यह काव्य सूक्ष्म रूप में था, बाद में ब्रह्मा ने नारद को यह निर्देश दिया कि इस चतुस्सूत्री ग्रन्थ को अभिवर्धित करें जिससे भगवान् हरि में भगवद् भक्तों की भक्ति दृढ़ होवे। इससे इतना स्पष्ट है कि आद्य रूप में संक्षिप्त ग्रन्थ का विस्तार श्री नारद जी की कथाओं के प्रचार- प्रसार से हुआ और बाद में यह एक विपुल ग्रन्थ बन गया। यही श्री मद्भागवत् के नाम से ख्याति- प्राप्त हुआ।

- - - - - - - - - - - - - - -

1. सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावन: ।
   समासेन हरेनान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत् ।।
   इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम् ।
   संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद् विपुलीकुरु ।।
   यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति ।
   सर्वात्मन्यखिलाधारे इति संकल्प्य वर्णय ।। भा0 म0 पु0, पृ0 104

महर्षि नारद द्वारा इस कथा का विस्तार क्रम से किया गया है और सरस्वती के तट पर बादरायण को इसका उपदेश किया गया। प्रथम रूप में श्री नारद ने यह कहा कि इस कथा के माध्यम से भगवान् की लीलाओं का वर्णन करें[1] क्योंकि उनकी लीला सर्ग स्थिति तथा लयात्मक है। बाद में यही कथा श्री शुकदेव ने हरिद्वार में गंगातट पर श्री परीक्षित को सुनाई।[2]

श्री मद्भागवत पुराण के इस रूप में अवतरित होने के पश्चात् इसका व्याख्यात्मक विकास भी पर्याप्त रूप से हुआ, जिसमें इस महाग्रन्थ पर की गई विपुल टीका सम्पत्ति प्राप्त होती है। श्री मद् भागवत् महापुराण की टीका संपत्ति की विशेषता यह है कि इसकी टीका विविध पंथ के सम्प्रदायाचार्यों द्वारा की गई है जिससे इस महाग्रन्थ पर किसी विशेष सम्प्रदाय का ग्रन्थ होने का भी आरोप नहीं लगाया जा सकता।

इस क्रम में हम विविध आचार्यों द्वारा श्रीमद् भागवत की की गई टीकाओं का उल्लेख कर सकते हैं जिसमें अद्वैत सम्प्रदाय के आचार्य चित्सुखा-चार्य ने श्री मद् भागवत की टीका की। इसी सम्प्रदाय में आचार्य शंकर के अनुयायी श्रीधर स्वामी द्वारा की गई श्री मद् भागवत् की टीका प्रामाणिक और महत्वपूर्ण है तथा यह टीका प्रमुख रूप से स्मृत की जाती है। इन्होंने विष्णुपुराण की अपनी टीका में आचार्य चित्सुखाचार्य का स्मरण किया है।[3]

- - - - - - - - - - - - -

1. भा० म० पु० 1/5/27; 1/4/16

2. भा० म० पु० 1/1/4

3. पु० त० मी०, पृ० 155

4. पु० वि०, पृ० 57।

विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के आचार्य स्वामी रामानुजाचार्य के एक अति निकट सम्बन्धी ने शुकपक्षीया नाम की श्रीमद् भागवत् की एक टीका लिखी है। इन आचार्य का नाम श्री सुदर्शन सूरि था। इसी तरह से चौदहवीं शताब्दी में भागवत चन्द्र चन्द्रिका नाम की श्री मद् भागवत की एक टीका प्राप्त है जिसके लेखक के रूप में श्री वीर राघवाचार्य का नाम लिया जाता है। द्वैत सम्प्रदाय के आचार्य माध्वाचार्य ने भागवत तात्पर्य निर्णय, नामक एक टीका लिखी है जो श्रीमद् भागवत के विवादास्पद प्रसंगों पर बहुत कुछ अर्थों में अपना स्पष्ट अभिप्राय प्रकट करती है।श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी रूपगोस्वामी ने श्री मद् भागवत के आधार पर भक्तिरसामृतसिन्धु जैसे कई ग्रन्थ लिखे हैं। पुष्टि मार्ग के आचार्य बल्लभाचार्य ने श्री मद् भागवत के कुछ स्कन्धों पर, विशेषकर दशम स्कन्ध पर अपनी वैदुष्यपूर्ण टीका प्रस्तुत की है। आचार्य निम्बार्काचार्य के अनुयायी श्री शुकदेवाचार्य ने सिद्धान्त प्रदीप नाम की व्याख्या लिखी है। इन सबसे यह कहा जा सकता है कि श्रीमद् भागवत परम्परा का विपुल विस्तार है।

द्वितीय अध्याय

(श्रीमद् भागवत पुराण का सामान्य परिचय)

द्वितीय अध्याय

॥श्रीमद् भागवत पुराण का सामान्य परिचय॥

पुराण शब्द : व्युत्पत्ति एवं विश्लेषण, पुराण संरचना की पृष्ठभूमि

पौराणिक उद्भव : समय एवं रचयिता

रचयिता, वक्ता अथवा सूत, पुराणों की संख्या तथा क्रम, पुराणों का वर्गीकरण

पुराणों में वर्णित विषय, पुराण संरचना का उद्देश्य, श्रीमद्भागवत का परिचय,

स्कन्ध तथा अध्याय, समय एवं रचनाकार

द्वितीय अध्याय

{श्री मद् भागवत् पुराण का सामान्य परिचय}

पुराण शब्द: व्युत्पत्ति एवं विश्लेषण

पुरा अव्ययपूर्वक णी प्राणे धातु से ड प्रत्यय करने के बाद टिलोप और णत्व कार्य करने पर पुराण शब्द सिद्ध होता है। अथवा पुरा भव: इस विग्रह में पुरा अव्यय से "सायंचिरंप्राह्णेप्रगे व्ययेभ्यष्ट्यु ट्युलौ तुट् च"सूत्र से ट्यु प्रत्यय होने के बाद ट्कार की इत्संज्ञा और लोप हो जाने के बाद "युवोरनाकौ" से "यु" का "अन्" तथा "अट्कुप्वाङ् नुम्व्यवायेऽपि" से णत्व कार्य कर पुराण शब्द निर्मित होता है। इसी के साथ ही "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवला: समानाधिकरणेन" सूत्र से "तुट्" प्रत्यय का अभाव हो जाता है। नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होने से यह शास्त्र के विशेषण के रूप में,प्रयोग किया जाता है। अथवा "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" सूत्रनिर्देश से निपातनात् पुराण शब्द बनता है।[1]

पुराण शब्द के व्यवहार से इस प्रकार की ध्वनि निकलती है कि इस वाङ्मय में नवीन प्रवृत्तियों का समाहार होते हुए भी इनमें प्राचीन परम्परा के सन्निवेश पर अधिक बल दिया जाता है।"पुरा विद्यते इति पुराणम्"- वायु पुराण की इस पंक्ति के आधार पर पुराकाल में विद्यमान होने से इन्हें पुराण कहा जा जाता है।[2]पद्मपुराण "पुरा" शब्द का अर्थ "परम्परा" के रूप में संकेतित करता है जिससे यह अभिप्राय सहज में ही स्वीकार किया जा सकता है कि जिस साहित्य में परम्परा का निबन्धन हो, वह साहित्य पुराण साहित्य है।[3]

---

1. पु0 मी0 , पृ0 38
2. वही, 1/203, म0 पु0 , पृ0 219
3. वही, 5/2/53

जिन ग्रन्थों में यह अभिमत संकेतित किया जाए कि "प्राचीन काल में ऐसा हुआ था" -ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार वे ग्रन्थ पुराण संज्ञक ग्रन्थ हैं।[1] आचार्य यास्क ने निरुक्त में-"पुरान: भवति" कह कर पद्पुराण के अभिमत को ही अपना अभिमत बनाया है और यह मत व्यक्त किया है कि पुराण साहित्य में "पुरा" को अर्थात् परम्परा को नवीन रूप प्रदान किया जाता है।[2] आचार्य पण्डित बल्देव उपाध्याय जी ने अनेक प्राचीन सन्दर्भ देकर यह प्रतिपादिक किया है कि पुराण शब्द का अर्थ प्राचीन तथा पूर्वकाल में होने वाला हो सकता है।[3] एक विद्वान् पुराणों में दिए गए "इति न: श्रुतम्", "इति श्रुत:", "इति श्रूयते", जिनका अर्थ होता है- ऐसा सुना गया है, ऐसा सुनते हैं, पदों के आधार पर यह मत व्यक्त करते हैं कि इनसे वर्णनीय विषय की प्राचीनता के प्रति पौराणियों का संकेत मिलता है।[4] और इस रूप में पुराण शब्द का शाब्दिक अभिप्राय यही निकलता है कि ये वे ग्रन्थ हैं जिनमें परम्परा का निर्वाह होता है और उसे नवीन रूप देने का प्रयास भी। साथ ही पुराण ग्रन्थों की विषय वस्तु प्राचीन होने से इनसे प्राचीनता का भी अवबोध होता है। और इस प्रकार विशेषण के रूप में पुराण शब्द का अर्थ है- पुरातन, पुराना या प्राचीन संज्ञा के रूप में "पुराण" का बोध पुरातन आख्यानों से संयुक्त ग्रन्थ के रूप में किया जाता है जिनमें रूप-कात्मक एवम् तथ्यात्मक पुरावृत्त संग्रहीत हैं।[5]

- - - - - - - - - - - - -

1• वही, 1/1/176

2• वही, 3/19

3• पु० वि०, पृ० 5

4• हरि० पु० सा० अ०, पृ० 1

5• पु० स०, पृ० 6

पुराण संरचना की पृष्ठभूमि

पुराण शब्द का प्रयोग प्राचीनकाल में वेद तथा वेदाङ्ग साहित्य में किसी न किसी रूप में दृष्टिगत होता है। ऋग्वेद में "पुराण" शब्द और "पुराणी" शब्द उल्लिखित हैं। अथर्ववेद में भी "पुराण तथा पुराणवित् शब्दों का उल्लेख है।[2] ब्राह्मणग्रन्थ, स्मृतियाँ तथा अन्य प्राचीनग्रन्थों में पुराणों का उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर 'अब मैं सनातन पुराणों का अध्ययन करता हूँ' का निर्वचन हुआ है- "सनापुराणमध्येरात्।" इसी में अन्य एक स्थान पर अश्विनीकुमारों को संबोधित कर कथन है कि आप दोनों का स्थान पुराण है। आपकी मित्रता से बहुत कल्याण होता है-"पुराणमाकः सख्य शिवं वाम्।[3] अथर्ववेद कहता है कि व्यास के रूप में उत्पन्न होकर सर्वाश्रय ईश्वर ने जिन पुराणों को लेखबद्ध किया उनको परमात्मा का अनुकूल वर्णन करने वाला जानों।[4]

इसी भाँति शतपथ ब्राह्मण में पुराण शब्द का उल्लेख है। एक स्थान पर कहा गया है कि यज्ञ के नवम दिन कुछ पुराण का पाठ किया जाना चाहिए- "अथ नवमेडहनि किंचित्पुराणमाचक्षीत्।" दूसरे स्थान पर यह कहा है कि वाक्यों-वाक्य इतिहास और पुराण का प्रतिदिन पाठ करना चाहिए, जो ऐसा जानता हुआ इनका पाठ करता है वह देवताओं को तृप्त करता है- "एष देवांस्तर्पयाति य एवं विद्वान् वाक्को वाक्यमितिहासपुराणमित्यरहरहः स्वाध्यायमधीते ।[5]

- - - - - - - - - - - - -

1. ऋ० वे० 3/6/49; 10/130/ 6 ; 9/99/4

2. अ० वे० 11/7/27; 11/8/7

3. ऋ० वे० 3/58/6

4. यत्रस्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत् ।
   एकं तदङ्ग स्कम्भस्य पुराणमनु संविदुः ।। अ० वे० 11/7/25

5. वही 11/5/7/9

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार सनत्कुमार के पास अध्ययनार्थ जाने पर उन के द्वारा प्रश्न किये जाने पर नारद जी ने कहा था कि भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और पाँचवे वेद इतिहासपुराण का अध्ययन किया है-

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वाणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्।" इसी तरह से बृहदारण्यक उपनिषद् में यह संकेत है कि जिस प्रकार जलती हुई गीली लकड़ी से धूम निकलता है उसी प्रकार ईश्वर से स्वासरूप में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और इतिहास पुराण प्रकट हुए-"स यथाऽद्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतास्य निश्वसितमेतधदृग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास: पुराणं विद्या उपनिषद: श्लोका: सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि।"[2]

इसी प्रकार से अनेक स्मृतियों में भी पुराण शब्द का प्रयोग किया गया है जैसे उशन: स्मृति में यह कथित है कि आचार्य एक संवत्सर तक शिष्य की परीक्षा कर लेने के बाद उसे वेद, धर्मशास्त्र, पुराण तथा अन्य तत्त्वो का उपदेश करे।[3] इसी प्रकार से एक अन्य स्मृति में संकेत है कि श्राद्ध के समय वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास पुराण और खिल सुनाना चाहिए।[4] संस्कृत का आदि काव्य वाल्मीकि रामायण भी पुराण शब्द से परिचित है और बालकाण्ड तथा अयोध्याकाण्ड में पुराण शब्द का उल्लेख किया गया है।[5]

- - - - - - - - - - - - - - -

1. ई0 द्वा0 उ0, पृ0 225

2. वही, पृ0 307

3. वही, 4/34

4. म0 स्मृ0 3/232

5. बा0 रा0 बालकाण्ड 9/1-; अयो0काण्ड 16/1

महाभारत में तो यहाँ तक कहा गया है कि इतिहास और पुराणों के द्वारा वेदों का विस्तार करना चाहिए, क्योंकि अल्पज्ञ वेदों डरता है कि अनर्थ करके यह मेरी हत्या न कर दे [1]। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ महाभाष्य में भगवान् पतन्जलि कहते हैं कि वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण और वैद्यक ये सब शब्दप्रयोग के विषय हैं - "वाकोवाक्यमितिहास: पुराणं वैद्यकमित्येतावच्छब्दस्य प्रयोग विषय:[2]"। शुक्रनीतिकार जहाँ सर्ग, प्रतिसर्ग वंश, वंशानुचरित और मन्वन्तर के माध्यम से पुराण का लक्षण करते हैं वहीं यह कहते हैं कि धर्म का तत्त्व अति गहन है इसलिए बुद्धिमान मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह सत्सेवित श्रुति, स्मृति और पुराणों में प्रतिपादित कर्मों का ही पालन करे [3]। आचार्य कौटिल्य ने भी कौटिलीय अर्थशास्त्र में पुराणों का संकेत किया है और पुराण, रामायण, महाभारत, इतिहास तथा आख्यायिका, धर्मशास्त्र एंव अर्थशास्त्र को इतिहास शब्द में समाहित किया है[4]।

उपरि उल्लिखित समस्त उद्धरणों के आधार पर यह कहना समीचीन होगा कि पुराणों की कथा के बीच अत्यन्त प्राचीनकाल में उपलब्ध हैं और वे धीरे धीरे विकसित होकर ग्रन्थों के रूप में ग्रथित होते रहे हैं। यद्यपि वेदोत्तर काल में ही पुराण ग्रन्थों के रूप में प्रस्तुत किए गए किन्तु उनके आख्यानों के बीज प्राचीन काल में विद्यमान थे। विण्टरनित्ज ने अपना यह मत दिया है कि वेदों और पुराणों में आख्यानों की समरूपता होते हुए भी इनमें अनुवर्ती विकास परम्परा निहित है [5]।

1· इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत् ।
विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।।

2· वही0 1/1/1

3· शु0 नी0 4/264 ; 3/38

4· वही0, पृ0 19

पौराणिक उद्भव ; समय एवम् रचयिता :-

पुराण संरचना की पृष्ठभूमि के क्रम में यह संकेत हो चुका है कि पुराण कथा के बीज वैदिक काल में विद्यमान थे किन्तु ग्रन्थ रूप में उनका स्वरूप बाद में अस्तित्व में आया । अथर्ववेद में पुराणवित् शब्द पर विद्वान् यह मत व्यक्त करते हैं कि सम्भवत: यह शब्द पुराणों के ज्ञाता मनीस्वियों की ओर संकेत करता है जिन्होंने इस प्रकार के साहित्य-प्रणयन और पल्लवन की ओर प्रयास किया होगा [1] ।

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् साहित्य किसी न किसी रूप में पुराण शब्द का उल्लेख करता है और संकेत मिलता है कि भले ही ग्रन्थों के रूप में पुराणों का अस्तित्व न रहा हो किन्तु कथानकों के संकेत के रूप में इनका अस्तित्व अवश्य माना जा सकता है । शतपथ ब्राह्मण में पुराण शब्द स्वतन्त्र रूप से और इतिहास के साथ सम्मिलित रूप से उल्लिखित है [2] । गोपथ ब्राह्मण में चारों वेदों के उद्भव के साथ-साथ ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास एवम् पुराण के उद्भव का संकेत है- "एवमिमे सर्वे वेदानिर्मिता: संकल्पा: सरहस्या: सब्राह्मणा: सोपनिषत्का: सेतिहासा: सान्वाख्याता सपुराणा: [3] । इस आधार पर यह विचार व्यक्त करना संगत हो सकता है कि तत्कालीन समय में वेद-वेदाङ्गों के साथ ही पुराणों की उद्भव-स्थिति भी हो सकती है ।

1· पु० स०, पृ० 34-35

2· वही 13/4/3/12-13; 11/15 1719 ; 14/6/10/6

3· वही, पूर्वभाग 2/10

एक विद्वान् का यह अभिमत है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि इस काल में इतिहास तथा पुराण की पृथक्-पृथक् धारायें थीं और दोनों में वर्ण्य-विषय की दृष्टि से या कि वर्णन शैली की दृष्टि से अन्तर अवश्य था[1]। तैत्तरीय आरण्यक[2] एवम् बृहदारण्यकोपनिषद्[3] तथा छान्दोग्योपनिषद्[4] स्पष्ट रूप में पुराणों का उल्लेख इस रूप में करते हैं जैसे अन्य ग्रन्थों की ही भाँति पुराणों का पृथक् संकलन ग्रन्थरूप में उपलब्ध हो ।

कतिपय स्थानों पर धर्मसूत्र भी पुराणों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और यत्र-तत्र उनमें पुराणों का उल्लेख हैं । जैसे आश्वलायन गृहसूत्र में पुराण के अध्ययन करने को महत्त्व दिया गया है और यह संकेत किया गया है कि जोपुराणों का अध्ययन विधिपूर्वक करता है यह अमरत्व प्राप्ति का पात्र बनता है[5]। इसी में एक अन्य स्थान पर संकेत हैं कि पुराण पाठ करते हुए यज्ञ की अग्निदीप्त होना मंगल का प्रतीक है-"तं दीपयमाना आसत आ शान्त रात्रादायुष्मता कथा: कीर्तयन्तो मांगल्यानीतिहासपुराणानीत्याख्यापयमाना"[6]।इसी प्रकार से गौतम धर्मसूत्र में न्याय कार्य में प्रामाणित साक्ष्यग्रन्थों के रूप में अन्य ग्रन्थों के साथ-साथ पुराणों को भी उपयोगी कहा गया है[7]।

उल्लिखित उदाहरणों के आधार पर यदि पुराणों के आदि उद्भव पर विचार किया जाय तो हमें यह दृष्टिगत होता है कि धर्म सूत्रों तक पुराणों का

1· पु० स०,पृ० 35

2· तै० आ० 2।9

3· बृहदा० 2/4/11

4· छान्दो 7/1/4

5· आ० गृ० सू० 3/4; 4/6

6· वही०,4/6

7· वही 11/19

उल्लेख जिस रूप में होने लगा था, उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि तब तक अर्थात् सूत्रकाल तक पुराणों का प्रणयन और संकलन प्रारम्भ हो चुका था । सूत्र-काल प्राय: ईसा पूर्व की पाँचवी अथवा छठवीं शताब्दी माना जाता है, अतएव पुराणों का विधिवत् रचना समय भी वही कहा जा सकता है । यद्यपि एक मत यह भी है कि पुराण का उदय तो बहुत पहले हो चुका था किन्तु इसे साहित्यिक रूप बाद में प्राप्त हुआ[2] । एक विद्वान् डा0 हाजरा का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र की रचना के पहले ही सम्भवत: एकाधिक पुराणों की रचना हो चुकी है[3] । इसी तरह से पं0 बल्देव उपाध्याय जी ने अपना मत व्यक्त करते हुए यह अनुमानित किया है कि उल्लिखित धर्मसूत्र की रचना के समय में कम से कम एक पुराण की रचना हो चुकी थी[4] ।

महाकाव्य परम्परा में बाल्मीकि रामायण को आदि काव्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है । यदि बाल्मीकि रामायण को इस दृष्टि से आलोकित किया जाए कि इसमें पुराणों के सन्दर्भ किस रूप में प्राप्त हैं तो हमें एक स्थान पर यह प्राप्त होता है कि सुमन्त्र को न केवल पुराणवेत्ता कहा गया है अपितु सूत होने के कारण उन्हें पौराणिक पुरावृत्तों का ज्ञाता भी बताया गया है[5] ।

1· पु0 स0, पृ0 37 ; ग0 सा0 इ0; 243 ;

2· ह0पु0 सां0 अ0, पृ0 11

3· स्टडीज इन द उपपुराणाज भाग -1, पृ0 2

4· पु0 वि0, पृ0 19

5· वही, पृ0 482; 118;458

महाभारत ग्रन्थ में तो अनेकशः पुराणों का उल्लेख किया गया है और यह कहा गया है कि इस महाकाव्य की रचना व्यास ने महापुराणों की रचना के उपरान्त की है[1]। इसी प्रकार से एक अन्य स्थान पर यह निरूपित है कि पुराणरूपी पूर्णचन्द्र के द्वारा श्रुति रूपी चन्द्रिका विकीर्ण की गई है - "पुराण पूर्णचन्द्रेण श्रुति ज्योत्स्ना प्रकाशिता"[2]। महाभारत में वर्णित जनमेजय के नागयज्ञ के आख्यान को वायु पुराण से लिया हुआ कहा जाता है। हापि-कंस ने वायु पुराण वर्णित इस आख्यान को महाभारत के आख्यान से प्राचीन माना है[3]। यद्यपि महाभारत के सन्दर्भ में उल्लिखित इन प्रमाणों पर कुछ विद्वान् अपनी विप्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत करते हैं[4]। तथापि महाभारत के अन्तिम अंश के सम्पादन काल तक, जो लगभग चतुर्थ शती ईसवीय तक का है, पुराणों का प्रणयन हो चुका था[5]।

ईसा पूर्व की तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में विरचित[6] प्रसिद्ध ग्रन्थ कौटिल्य-अर्थशास्त्र में भी इतिहास के अन्तर्गत गणना करते हुए पुराण की चर्चा की गई है और यह कहा गया है कि राजा दिन के दूसरे भाग को इतिहास सुनने में लगाये। "पश्चिममितिहासश्रवणे। पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रंचेतीतिहासः"[7]। इसी प्रकार से यह भी उल्लेख प्राप्त है कि साम्रुदायिक, नैमित्तिक, मौहूर्तिक, पौराणिक, सूत, मागध और पुरोहित आदि को एक हजार पण वेतन देने के उल्लेख में पौराणिकों के महत्त्व का संकेत प्राप्त है[8]।

1· वही, 18/5/75

2· वही आदि पर्व 2/86

3· द ग्रेट एपिक आफ इण्डिया, पृ0 48

4· ए0हि0सं0लि0, पृ0277, इ0हि0भाग-8, पृ0 76।

5· स्ट0 एपि0पुरा0, भू0 पृ0 3।

6· कौ0 अर्थ0, भू0 पृ0 स0, पृ0 37

पुराणों का उल्लेख स्मृतियों में भी अनेकशः किया गया है [1]। मनु-स्मृतिकार पितृश्राद्ध के समय वेदशास्त्र, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराणादि के सुनने के विधान का निर्देश करते हैं -

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।

आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ।।

इसी भाँति व्यासस्मृतिकार द्विज वर्णों के लिए यह निर्देश करते हैं कि उन्हें चाहिए कि वे पौराणिक धर्म के अनुकूल अपना जीवन यापन करें[2]। उनके इस उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि पौराणिक धर्म, वेद, स्मृति-निरूपित धर्म के सदृश ही महत्त्वपूर्ण है। याज्ञवल्क्य स्मृति में अध्येय चौदह विद्याओं में से पुराणविद्या को प्रथम स्थान दिया गया है और पुराण-श्रवण को देव एवं पितृ-भक्ति के लिए उपयोगी कहा गया है एवम् उनके नियमित पारायण पर बल दिया गया है [3]। शुक्रनीति यह संकेत करती है कि राजाओं के राजकीय कार्यों के निष्पादन में पुराणवेत्ताओं की योग्यता और उपादेयता असंदिग्ध होती है। पुराणवेत्ता को पुराणों के आख्यानों के ज्ञान के अतिरिक्त साहित्य, संगीत आदि विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिए -

साहित्यशास्त्रनिपुणः संगीतज्ञश्च सुस्वरः ।

सर्गादिपञ्चविज्ञाता स वै पौराणिकः स्मृतः [4] ।।

1· वही, पृ0 124

2· वही, 2/5

3· वही, पृ0 46

4· शु0नी0, पृ0 83

शुक्रनीति में ही जहाँ पर विद्याओं और कलाओं की संख्या का वर्णन आता है वहाँ पर विद्याओं में पुराण को एक विद्या के रूप में गिना गया है। इतना ही नहीं, सर्ग प्रतिसर्ग के रूप मे यह स्मृतिकार स्पष्ट रूप से पुराण का लक्षण भी देता है[1]।

गद्यसाहित्य के अप्रतिम आचार्य बाण की रचनाओं में भी पुराणों की प्रसिद्ध का संकेत प्राप्त होता है। क्योंकि बाण का समय लगभग सप्तम् शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है[2], इसलिए यह प्रतीत होता है कि तब तक पुराण साहित्य पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। कादम्बरी के जाबालि आश्रम वर्णन में "पुराणेषु वायुप्रलपितम्" कहकर वायु पुराण का संकेत तो स्पष्ट है, जबकि इसी ग्रन्थ में ऋषिकुल वर्णन के सन्दर्भ में भी पुराण का उल्लेख है[3]। इसी प्रकार से हर्ष चरितम् में भी वायु द्वारा पोषक पुराण के रूप में वायु पुराण का संकेत सुदृष्टि करता है। और इसी क्रम में मुनि व्यास द्वारा गाए पुराणों की प्रतिष्ठा का संकेत भी मिलता है[4]।

अन्य आचार्यों में कुमारिलभट्ट ने[5] जो सप्तम शताब्दी के आचार्य माने जाते हैं, जैमिनिसूत्र में पुराणों के स्वरूप, वर्ण्य-विषय तथा प्रामाण्यादि का विवेचन किया है[6]।

1· वही, पृ0 225,229
2· का0 क0, भू0, पृ0 20
3· वही, पृ0 128,281
4· वही, पृ0 146,147
5· मी0 प्र0, पृ0 6
6· वही, 2/3/1, 1/3/30

आचार्य शंकरपुराणों के श्लोकों का उद्धरण देकर यह संकेत करते हैं कि वे पुराण से परिचित हैं। वे पुराण और स्मृति को समानार्थक मानने का भी संकेत करते हैं। अनेकानेक प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त इन पुराण-परिचय-संकेतो के साथ-साथ ईसवीय की प्रारम्भिक शताब्दियों में पुराणों की रचना एंव उनके व्यापक प्रभाव की सूचना गुप्तकालीन तथा गुप्तोन्तरकालीन अभिलेखों से भी प्राप्त होती है। इनमें ब्रह्म पुराण,भविष्य पुराण तथा गरूड़ पुराणों के उद्धरण उत्कीर्ण किए गए हैं[1]।

उल्लिखित उद्धरणों के आधार पर यदि यह निर्णय करना पड़े कि पुराणों के रचना का निश्चित समय क्या है और किस पुराण की रचना सर्व-प्रथम की गई होगी,तो ऐसा निर्णय कर पाना एक कठिन कार्य होगा। ऐसी कठिनता इसलिए हैं क्योंकि पौराणिक साहित्य आख्यान परक है और इस साहित्य की विषय वस्तु विवरणात्म अधिक है जो परम्परागत रूप से प्राचीन समय से इस देश में चलती रही है। पुराण साहित्य का जितना विशाल कले-वर है,वह न तो किसी क्रमबद्धता के साँचे में फिट किया जा सकता है और न ही उसे किसी एक काल के क्रम में निरूपित किया जा सकता है। फिर भी, इतना अवश्य निरूपित किया जा सकता है कि वाणभट्ट की कृतियों में वायु-पुराण की सामाजिक प्रसिद्व और प्रतिष्ठा का जो संकेत है[2],तदनुसार यह पुराण सम्भवत: सर्वाधिक प्राचीन पुराण है। जैसा कि एक विद्वान् ऐसा स्वीकार करते हैं[3]।

1· ज0 रा0 ए0 सो0 §1912§ पृ0 248-255

2· कादम्बरी,पृ0 128,हर्ष चरितम्,पृ0 146,147

3· पु0 इ0,भू0 पृ0 18-21,का0 हि0 वा0 पु0,पृ0 4-5

वायु पुराण की ही तरह विष्णु पुराण को भी प्राचीन पुराणों में गिना जाता है। पुराणों के जो पंच लक्षण किये गए हैं, उनमें विष्णु पुराण अनन्य तंत्र है, पार्जीटर इस विषय पर विचार करते हुए यह तर्क करते हैं कि इस पुराण के वर्ण्य विषय और इसकी रचना शैली समरूप है। इसकी इस रचना शैली से यह अनुमान होता है कि उस समय पुराण लेखन अपना स्तरीय प्राप्त कर चुका था/ इस पुराण में जैनों बौद्धों के वैचारिक स्थलों से यह भी अनुमान होता है कि इसकी रचना वंशीय शासन काल में हुई होगी, क्योंकि उस समय सर्वधर्म समभाव का काल था और यह समय निश्चित ही ईसा की पाँचवीं शताब्दी का हो सकता है।[1]

प्रारम्भिक पुराणों में मत्स्य पुराण को परवर्ती अनेक पुराणों का मूल स्त्रोत माना जाता है। आचार्य पं० बल्देव उपाध्याय ने इसमें अनेक तर्क दिये हैं तथा यह प्रतिपादित किया है कि कालिदास द्वारा विरचित "विक्रमोर्वशीयम्" किसी न किसी रूप में अपनी विषय वस्तु के लिए मत्स्य पुराण पर आधारित है। इसलिए यदि कालिदास समय गुप्त युग स्वीकार किया जाता है तो फिर मत्स्य पुराण को प्राक् गुप्तकाल का पुराण स्वीकार करना होगा और यह समय होगा 200 ईसवीय से 400 ईसवीय के मध्य का।[2]

पुराणों का प्रारम्भिक ग्रथन जब हुआ और वे जब ग्रन्थाकार के रूप में प्रस्तुत किये गये तब वे सामान्यतः पञ्चलक्षणों से युक्त थे किन्तु बाद में

---

1. ए० इ० हि० ट्रे०, पृ० 80

2. पु० वि०, पृ० 543-544

जैसे-जैसे वे विविध सम्प्रदायों की विचारधारा के विचार के वाहक बनते गए, वैसे-वैसे ही उनमें अनेक सम्प्रदायों के विचारों का प्रवेश होता गया। इस दृष्टि से चौदहवीं तेरहवीं और सोलहवीं शताब्दी जो क्रमशः रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्यों के प्रकाश की शताब्दियाँ हैं, पुराणों के प्रक्षिप्तांश की भी शताब्दियाँ हैं। इसी दृष्टि से पाश्चात्य विद्वान् कुछ अंशों को बहुत बाद का स्वीकार करते हैं।[1]

सामान्य रूप से यह कहना जहाँ संगत नहीं है कि पुराणरचना की प्रथम तिथि कौन सी है और अन्तिम तिथि कौन सी है, वहीं श्री शिवदत्त ज्ञानी की इस धारणा से सहमत हुआ जा सकता है कि पुराणों की आख्यान अवस्था 1200 ईसा पूर्व से 950 ईसा पूर्वतक की है। उनके विलगाव की अवस्था 950 ईसा पूर्व से लेकर 500 ईसा पूर्व तक की है। पुराणों की पञ्चलक्षण अवस्था 500 ईसा पूर्व से लेकर ईसवीय की प्रथम शताब्दी तक है। और इसी प्रकार पुराणों की साम्प्रदायिक अवस्था ईसवीय की प्रथम शताब्दी से 700 ईसवीय तक हो सकती है।[2]

पी० वी० काणे महोदय ने कुछ इसी रूप में पुराणों के विकास की पाँच आवस्थाओं का विश्लेषण प्रस्तुत दिया है। वे लिखते हैं कि प्रथम स्थिति में हम पुराणों के सन्दर्भ अथर्ववेद, शतपथ एवम् प्राचीन उपनिषदों में पाते हैं, द्वितीय स्थिति में, वे लिखते हैं

---

1. पु० स०, पृ० 47

2. पु० प० भाग 1, नं० 2 पृ० 213-219; भाग2नं० 1-2 पृ० 68-75

कि कम से कम तीन पुराण होने चाहिए, क्योंकि तैत्तरीय आरण्यक तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र भविष्य पुराण की सूचना देते हैं। यह समय ईसापूर्व का 5 वीं अथवा चतुर्थ शताब्दी का होना चाहिए। तृतीय स्थिति ईसवीय की दूसरी-तीसरी शताब्दी है जब महाभारत और स्मृतियाँ पुराणों का उल्लेख करती हैं। वे लिखते हैं कि मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्डपुराण न केवल 320 से 325 ईसवीय तक रचे जा चुके थे, अपितु वे पुनासंस्कारित भी किए जा चुके थे। अधिकतर महापुराण पाँचवी छठवीं शताब्दी में अपना आकार ग्रहण कर चुके थे। यह इनकी चतुर्थ स्थिति थी। उपपुराण 7 वीं 8 वीं शताब्दी से 13 शताब्दी तक अपने वर्तमान रूप को प्राप्त कर चुके थे।[1]

इस प्रकार से यही तथ्य तर्क संगत प्रतीत होता है कि पुराणों का रचना काल एक विस्तार का काल है जो किसी एक शताब्दी का न होकर उनकी शताब्दियों का है। सामान्य रूप में इसे ईसा पूर्व की तृतीय-चतुर्थ शताब्दी से लेकर तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक का कहा जा सकता है।

रचयिता:-
-------- प्राचीन परम्परा और नवीन परम्परा में भी सामान्य रूप से सभी यह कहते-सुनते दृष्टिगत होते हैं कि सत्यवती पुत्र व्यास ही पुराणों के रचनाकार हैं। अनेकानेक पुराण भी इस विषय में कुछ ऐसे कथन देते हैं जिनके आधार पर भी यह मान लिया जाता है कि व्यास ही सभी पुराणों के रचनाकार हैं। जैसे स्कन्द पुराण में यह कहा गया है कि ईश्वर ने स्वयं ही युग-2 विशेष में व्यास का रूप धारण करके अष्टादश पुराणों का आख्यान किया-

व्यासरूपं विभु कृत्वा संहरेत् स युगे युगे ।

तदेष्टादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन् प्रकाशते ।[2]

---

1. हि0 ध0 भाग2 पृ0 853-55

2. म0 पु0 ४।४, पृ0 218

मत्स्यपुराण में वेदार्थ से सम्पन्न महाभारत के माहात्म्य का निरूपण करते हुए यह वर्णन आया है कि सत्यवती नन्दन व्यास ने अठारह पुराणों की रचनाकर इनके कथानकों से समन्वित सम्पूर्ण महाभारत नामक इतिहास की रचना की।[1] इसी सन्दर्भ में जब पद्मपुराण का आलोकन किया जाता है तो वहाँ पर दो मत दिखाई देते हैं। एक के अनुसार यह प्रतिपादित है कि महर्षि व्यास को साक्षात् नारायण ही मानना चाहिये। इन्हीं परम ब्रह्मवादी, सभी कुछ के ज्ञाता, सम्पूर्ण लोकों में पूजित, दीप्त तेज व्यास से ही पुराण सुने गए हैं।[2] जबकि इसी पुराण के एक दूसरे उद्धरण के अनुसार यह उल्लिखित है कि अष्टादश पुराणों के "व्याकर्ता" महर्षि मनु हैं-" अष्टादशपुराणानां व्याकर्ता तु भवेन्मनुः।[3]

इस सन्दर्भ में यह भी विचार करने वाला तथ्य है कि व्यास शब्द का शाब्दिक अर्थ विस्तार करने वाला भी होता है। व्यास वह है जो किसी विषय का विस्तार करता है, विश्लेषण करता है, कथावाचक है अथवा जो पुराणों की कथा सुनाता है।[4] यदि इस अर्थ में पुराणों के रचनाकार सत्यवती पुत्र व्यास को मानते हुए भी यह कहा जाए कि एक काल में और एक ही व्यक्ति द्वारा इतने पुराणों की रचना न हो सकने के कारण व्यास एक उपाधि थी और जिसने-जिसने भी पुराण रचनाएँ की, वे सभी व्यास कहलाए तो यह भी तर्क संगत माना जा सकता है। इसमें यह एक तर्क और भी दिया जाता है कि भिन्न-भिन्न पुराणों की भाषा शैली और वर्णन वस्तु भी पृथक्-पृथक् है जिससे यह प्रतीत होता है कि

- -

1.

2. प० पु० 1, पृ० 40-41

3. वही, पाताल खण्ड 111/98

4. सं० शा० कौ०, पृ० 108।

कि इनके रचनाकार भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए। इस सन्दर्भ में यदि श्री मद्-भागवत की भाषा देखी जाए तो क्लिष्ट अथवा अति क्लिष्ट भाषा के रूप में दृष्टि-गत होगी। पर उसी भाँति पद्म् पुराण की भाषा सरल और सहज है।[1] इसी भाँति पद्मपुराण का यह सन्दर्भ कि ब्रह्मा ने विभिन्न युगों में व्यास का रूप धारण कर पुराणों की रचना की,[2] इस संकेत की दृष्टि से करता है कि भिन्न-भिन्न युगों में जन्म ग्रहण करने वाले व्यास एक न होकर अनेक थे और उन्होंने अपने-अपने समय में पुराणों की रचना की थी।

वक्ता अथवा सूत

प्राय: पुराणों में वक्ता के रूप में सूत का नाम बार-बार आता है। यही कथा प्रारम्भ करने वाला और पौराणिक के रूप में जाना जाता है। जैसे श्री मद्भागवत महापुराण के माहात्म्य में सूत शौनक को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे शौनक! तुम्हारे चित्त में जो प्रीति है उसके अनुरूप में सर्वसिद्धान्त निष्पन्न संसारभयनाशक, भक्तिवर्धक, कृष्णसन्तोष का हेतु कथानक कहता हूँ, उसे सावधानी पूर्वक सुनो।[3] इसी प्रकार लिंग पुराण में यह वर्णन है कि पौराणिकोत्तम सूत ने नारद के समक्ष महादेव की कथा कही थी।[4] इस हेतु से पौराणिक रचनाकारों के साथ-साथ ही समीक्षक सूत पर भी विचार करते हैं। मनुस्मृति में यह कहा गया है

---

1. भा० पु०, पृ० 267; प० पु०, पृ० 245
2. वही, सृष्टि खण्ड 1/50
3. वही०, पृ० 25
4. लि० पु०, पृ० 33-35

कि जो क्षत्रिय के वीर्य से और ब्राहमणी के गर्भ से उत्पन्न हुआ होता है, वह सूत कहा जाता है।[3] श्रीमद् भागवत् पुराण में सूत को प्रतिलोमज कहा गया है और कथा कहते हुए शिष्ट व्यवहार न किए जाने के कारण निन्दित किया गया है।[2] इससे सूत की निम्नता का आभास मिलता है। किन्तु कौटिल्य अर्थशास्त्र में यह कहा गया है कि क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मणी में उत्पन्न सूत कहा जाता है किन्तु पुराणों में वर्णित सूत और मागध इनसे भिन्न हैं-"क्षत्रियात् सूत:। पौराणिकस्त्वन्य: सूतो मागधश्च, ब्रह्मक्षत्रात् विशेषत:।[3] वायु पुराण इस सम्बन्ध में एक रोचक आख्यान प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार अग्निकुण्ड से सूत अथवा प्रस्तुत होने के कारण इन्हें सूत कहा गया। इससे सूत की तेजस्विता और अज्ञानान्धकार के छेदन की शक्ति का आभास मिलता है। अग्निपुराण का इस सन्दर्भ में स्पष्ट अभिमत है कि सूत पौराणिक द्विज हैं और ये वेदादि शास्त्रों के ज्ञाता तथा धर्म को जानने वाले हैं।[4] "इस लिए प्रतीत यह होता है कि सूत भी किसी व्यक्ति का नाम न होकर पुराण कथा के वाचकों को संबोधित करने वाला नाम हो सकता है।

पुराणों की संख्या तथा क्रम

विष्णु पुराण में वेद और वेदोत्तर साहित्य के विस्तार का क्रम बताते हुए व्यासजी के द्वारा अपने प्रसिद्ध शिष्य सूत को पुराण-अध्ययन कराये जाने के उल्लेख के क्रम में अठारह पुराणों की रचना की गई बताई गई है और उसमें भी ब्रह्म पुराण को प्राचीन कहा गया है-"अष्टादश पुराणानि पुराणज्ञा प्रचक्षते।[5]

---

1. वही, पृ0 428
2. वही, पृ0 536
3. वही, पृ0 347-348
4. वही, 18/15
5. वि0 पु0 ३।६ ,पृ0 37।

इसी प्रकार से अठारह पुराणों का सन्दर्भ अन्य और पुराणों में भी दिया गया है।[1]

इस प्रकार से जो एक सामान्य मान्यता "अष्टादश पुराणानि"की है, तदनुरूप पुराणों की संख्या अठारह ही है। सामान्य रूप में इन पुराणों का क्रम ब्रह्म-पुराण, पद्मपुराण, विष्णु पुराण, शिव पुराण, भागवत पुराण, नारद पुराण, मार्कण्डेय पुराण, अग्नि पुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, लिङ्ग पुराण, वाराह-पुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरूडपुराण, एवम् ब्रह्माण्ड-पुराण है। पद्मपुराण के आदि खण्ड, पाताल खण्ड और उत्तर खण्ड में पृथक्-पृथक् पुराणों के नाम दिए गए हैं किन्तु उनके क्रम में अन्तर है।[2]इतना ही नहीं इस पुराण में दी गई संख्या भी अन्य स्थानों की अपेक्षा भिन्न है। पातालखण्ड में पुराणों की संख्या बाईस दी गई है। इस उल्लेख में ब्रह्माण्डपुराण छोड़ दिया गया है और मार्तण्ड पुराण, नृसिंह पुराण, कपिल पुराण पुराण, दुर्गा पुराण तथा भविष्योत्तर पुराणों का नाम अतिरिक्त रूप से जोड़ा गया है।[3]वायु पुराण में-"एवमष्टादशोक्तानि पुराणानि बृहन्ति व "कहकर पुराणों की संख्या तो अठारह ही कही गई है किन्तु पुराणों की गणना में केवल सोलह पुराणों का नाम दिया गया है। ये पुराण हैं-मत्स्य, भविष्य, मार्कण्डेय, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्माण्ड, भागवत, ब्रह्म, वामन, आदिक, वायु, नारदीय, गरूड, पद्म, कूर्म, वाराह एवम् स्कन्दपुराण। इनमें भी आदिक पुराण का नाम प्रचलित पुराण-परम्परा से भिन्न है।[4]देवीभागवत पुराण में, जो उपपुराण में परिगणित है, पुराणों के आदि अक्षरों से अष्टादश पुराणों का परिचय दिया गया है-

- -

1. भा0 पु0, प0 743, म0 पु0 ( ), पृ0217, वा0 पु0, पृ0 195

2. वही, उत्तरखण्ड 219, 25, 27, 261, 77, 81

3. प0पु0 पातालखण्ड 10/51/53

4. वही, पृ0 195

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं व चतुष्टयम् ।

नालिङ्गाग्नि पुराणानि कूस्कं गरुडमेव च [1] ।।

<u>पुराणों का वर्गीकरण :-</u>

पुराण साहित्य की अपनी यह एक विशिष्ट शैली है कि वेस्वाभिमत किसी एक देवता का विशेष वर्णन करते हैं और फिर उस देवता की विशिष्टता के सामने अन्य देवताओं का अपकर्ष सा कर देते हैं । इस प्रकार से यदि विष्णु पुराण को देखें तो इसमें विष्णु का इतना अधिक माहात्म्य वर्णन किया गया है कि उन्हें ही इस सृष्टि का उत्पादक,धारक और विनाशक बताया गया है । विष्णु त्रिकाल में अविनाशी, हिरण्यगर्भ और शंकर के नाम से प्रसिद्ध हैं -

सर्गस्थितिविनाशानां जगतो योऽजगन्यत: ।

मूलभूतो नमस्तस्मै विष्णवे परमात्मने[2] ।।

इसी प्रकार से यदि लिङ्ग पुराण का अवलोकन करें तो उसमें यह दृष्टिगत होगा कि लिङ्ग ही शिव है और उसकी आज्ञा से ही समस्त महाभूत सृष्टि का जनन करते हैं तथा बुद्धि उसी की आज्ञा से अध्यवसित होती है-

महाभूतान्यशेषाणि जनयन्ति शिवाज्ञया ।

अध्यवस्यति सर्वार्थान्बुद्धिस्तस्यार्थया विभो: [3] ।।

इस प्रकार से प्रत्येक पुराण प्राय: अपने-अपने अभिमत देवता का आख्यान विशिष्टता के साथ करता है । यही कारण है कि पुराणों का एक वर्गीकरण देवशक्तियों के आधार पर किया जाता है ।

1· वही 1/3/2

2· वि0 पु0 , पृ0 46

3· लि0 पु0.पृ0 158

स्कन्द पुराण में इसी प्रकार का वर्गीकरण है जिसके अनुसार दस पुराण शैव, चार-पुराण वैष्णव, दो पुराण ब्रह्मा, एक अग्नि तथा एक सूर्य से सम्बन्धित हैं। यह वर्गीकरण इस प्रकार है-

(1) शैव पुराण :-	1. शिव	2. भविष्य	3. मार्कण्डेय
	4. लिङ्.	5. वाराह	6. स्कन्द
	7. मत्स्य	8. कूम	9. वामन
	10. ब्रह्माण्ड		
(2) वैष्णव पुराण -	1. विष्णु	2. भागवत	
	3. नारद	4. गरुड	
(3) ब्रह्म पुराण :-	1. ब्रह्म	2. पद्म	
(4) अग्नि पुराण :-	अग्नि		
(5) सविता या सूर्य :-	1. ब्रह्मवैवर्त[1]		

इस वर्गीकरण के अतिरिक्त पुराणों का एक वर्गीकरण त्रिगुण के आधार पर किया जाता है। इसके अनुरूप यह विवरण है कि मत्स्य, कूर्म, लिङ्., शिव, स्कन्द, अग्नि, पुराण तामस पुराण हैं। विष्णु, नारद, भागवत, गरुड, पद्म और वराह ये सात्विक पुराण हैं। ब्रह्माण्ड, ब्रह्म वैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन और ब्राह्म- ये राजस पुराण हैं-

- -

1. वही, सम्भवकाण्ड 2/30/38

मात्स्यं कौर्मं तथा लैड़्गं शैवं स्कन्दं तथैव च ।
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे ।।

. . . .

. . . .

भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे ।[1]

मत्स्यपुराण कहता है कि सत्वगुण प्रधान पुराणों में विष्णु के माहात्म्य को तथा रजोगुण प्रधान पुराणों में ब्रह्मा की प्रधानता जाननी चाहिए। इसी भाँति तमोगुण प्रधान पुराणों में अग्नि और शिव का माहात्म्य का वर्णन किया गया है।[2]

पुराणों में वर्णित विषयों के अनुसार जो वर्गीकरण किया जाता है तदनुरूप साहित्यिक-ऐतिहासिक पुराणों में गरूड, अग्नि और नारदपुराण हैं। द्वितीय वर्ग में तीर्थों और व्रतों का वर्णन है जिसमें पद्म, स्कन्द और भविष्यपुराण हैं। तृतीय वर्ग में इतिहास प्रधान ब्रह्माण्ड और वायुपुराणों का है। चतुर्थ वर्ग साम्प्रदायिक पुराणों का है जिसमें लिड़्ग, वामन और मार्कण्डेय पुराण हैं। पंचम वर्ग प्रक्षिप्तांश बहुल पुराणों का है जिसमें ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त और भागवत हैं। षष्ठ वर्ग में वे पुराण हैं जो आमूल परिवर्तित हो गए हैं। इनमें वाराह, कूर्म और मत्स्यपुराण हैं।

पुराणों में वर्णित विषय

मत्स्य पुराण में यह कहा गया है कि पुराणों में सर्ग आदि पांच अड़्ग तथा आख्यान कहे गए हैं। इनमें से सर्ग (ब्रह्मा द्वारा की गई सृष्टि रचना), प्रति (ब्रह्मा के मानस पुत्रों द्वारा की गई सृष्टि रचना अथवा प्रतिसंचर या प्रलय)

---

1. प० पु०, उत्तरकाण्ड 263/81-84

2. वही, पृ० 219

3. पु० स०, पु० 19; कल्याण, पृ० 553

वंश ॥ सूर्य,चन्द्र अग्नि आदि ॥ मन्वन्तर ॥ स्वायम्भुव आदि मनुओं का कार्य-काल॥ तथा वंशानुचरित ॥ पूर्वोल्लिखित वंशों में उत्पन्न नरेशों का जीवनचरित॥ कहा जाता है। इन पंच लक्षणों से युक्त पुराणों में सृष्टि और संहार करने वाले ब्रह्मा,विष्णु,सूर्य और रुद्र के साथ भुवन के महात्म्य का वर्णन किया गया है। अर्थ, धर्म,काम और मोक्ष का भी इसमें विस्तृत विवेचन है।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।

वंशानुचरितं चैव पुराणं पंच लक्षणम् ॥

x x x

ब्रह्मविष्णवर्करुद्राणां माहात्म्यं भुवनस्य च ।

x x x

धर्मार्थश्च कामश्च मोक्षश्चैवात्र कीर्त्यते ।

सर्वेष्वपि पुराणेषु तद्विरुद्धं च यत् फलम् ॥

पुराणों में वर्णित इन पंचलक्षणों का संकेत,जिन्हें हम पुराणों में वर्णित विषय भी कहते है,अन्य पुराणों में भी प्राप्त होते हैं। विष्णु पुराण,मार्कण्डेय पुराण, देवी भागवत तथा अग्नि पुराण आदि में ऐसा ही वर्णन किया गया है[2]। इस आधार पर यह प्रतीत होता है कि जिन ग्रन्थों में इन पंचलक्षणात्मक विषयों का वर्णन किया गया है, वे पुराण हैं अथवा पुराणों में ये पाँच प्रकार के विषय वर्णित हैं। किन्तु स्थिति ऐसी न होकर इस अर्थ में भिन्न है कि पुराणों के इन पंच -

---

1· म०पु०॥1॥ पृ० 218

2· वि०पु० ॥1॥ पृ० 371,मा० पु० 137/13, मा० पु० 137/13; दे० भा० 1/2/16

लक्षणात्मक वर्णन का बहुत ही कम अंश में परिपालन किया गया है । पुराण पर्यालोचन के आधार पर एक मत इस प्रकार का दिया जाता है कि वायु ,मत्स्य,ब्रह्माण्ड तथा विष्णु आदि प्राचीन पुराणों में ये पन्चलक्षणात्मक वर्ण्य-विषय अवश्य प्राप्त होते हैं किन्तु बाद के पुराण जैसे -जैसे ग्रथित होते गए,उनमें अन्य और विषयों का भी समावेश होता गया [1] । डा० पुसालकर ने अपने एक लेख में यह अभिमत किया है कि कोई भी पुराण अपने सम्पूर्ण रूप में पंचलक्षणात्मक नहीं है । कुछ पुराणों में तो कई अधिक विषय हैं और कुछ पुराणों में प्राय: इन विषयों की कोई चर्चा तक नहीं है । इनका यह भी मत है कि ये पंच लक्षण तो केवल उपपुराणों के लिए हैं; महापुराणों के लिए तो दस लक्षण होने चाहिए[2] । इसी तरह से एक अन्य विद्वान् ने यह मत व्यक्त किया है कि समस्त पुराणों के चार लाख श्लोकों में से केवल दस हजार श्लोकों में ही पंचलक्षणात्मक विषयों का समावेश किया गया है [3] ।

श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में यह संकेत आया है कि पुराण विषय के दस लक्षण जानने चाहिए । इसी प्रकार द्वादशस्कन्ध में सर्ग,विसर्ग, वृत्ति रक्षा,अन्तर,वंश,वंशानुचरित,संस्था,हेतु तथा अपाश्रय के रूप में दस लक्षण बताए गए हैं -

सर्गो स्वार्थ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च ।
वंशों वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रय: [4] ।।

1· पु० सं०,पृ० 20

2· कल्याण पृ० 552

3· द० पृ० पं० ल०,पृ० 7,49

4· वही,पृ० 107,+743

एक अन्य मत के अनुसार सृष्टि, विसृष्टि, स्थिति, पालन कर्मवासना, मनु-वार्ता, प्रलयवर्णन, मोक्षनिरूपण, हरि कीर्तन तथा देव कीर्तन पुराणों के वे दस लक्षण हैं [1] ।

इन विषयों के अतिरिक्त देव स्तुतियाँ, उपासना पद्धतियाँ, आचार-व्यवहार, नीति-दर्शन तथा वर्णाश्रम व्यवस्था जैसे विषय भी पुराणों में वर्णित हैं ।

पुराण संरचना का उद्देश्य :-

वायु पुराण में यह कहा गया है कि जो वेदों को और उप-निषदों को सांगोपाङ्ग जानता है किन्तु पुराणों को यदि नहीं जानता है तो वह विचक्षण नहीं हो सकता । इतिहास और पुराणों से ही वेदों का समुप-बृंहण हो सकता है क्योंकि अल्पश्रुत से वेद इसलिए डरता है कि कहीं यह मेरी प्रताड़ना न करे ।

योऽधिचतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विज: ।
न चेत् पुराणं संविधा नैव स स्याद् विचक्षण: ।।
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति [2] ।।

इस सन्दर्भ से ही पुराण संरचना का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है जिसके आधार पर पुराणों के माध्यम से वेदसाहित्य का उपबृंहण करना एक निश्चित उद्देश्य है ।

---

1. पु० स० ,पृ० 21
2. वा० पु० ,पृ० 4

डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल विस्तार से अपने एक लेख में स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार से पुराण वेद-विषयों का उपबृहंण करते हैं[1] ।

समयान्तर के बाद विभिन्न सम्प्रदायों का उदय हुआ तब उन-उन सम्प्रदायों एवम् उनके सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के लिए भी इन पुराणों की संरचना हुई । तीर्थयात्रा, व्रतदान, श्राद्ध आदि की महिमा का वर्णन करके उनका प्रचार-प्रसार करना भी पुराणों का उद्देश्य निरूपित किया जा सकता है ।

श्रीमद् भागवत का परिचय :-

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के नाम से चार वेदों सत्रह पुराणों तथा महाभारत की रचना के पश्चात् भी जब भगवान् व्यास को आत्मिक शान्ति प्राप्त नहीं हुई तब उन्होंने महर्षि नारद के अनुशासन से इस मंगलमय और महत्त्व पूर्ण पुराण की रचना की[2] । इससे यह संकेत मिलता है कि यह पुराण महत्त्वपूर्ण तो है किन्तु सम्भवत: अन्य पुराणों की अपेक्षा बाद में रचित पुराण हो सकता है ।

1· पु0 प0, भा0 । अं0 । , पृ0 69-100

2· अस्त्येव में सर्वमिदं त्वयोक्तं तथापि नात्मा परितुष्यते मे ।
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं पृच्छामहे त्वयात्मभवात्मभूतम् ।।

x x x x

भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम् ।

x x x

यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिता: ।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णित: ।। भा0 म0 पु0 , पृ0 55

श्रीमद् भागवत अनेक आख्यानों से युक्त एक वैष्णव दर्शन का मानक ग्रन्थ माना जाता है क्योंकि इसमें वेदान्त दर्शन के साथ-साथ नारद पंचरात्र तथा गीता के अपूर्व दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन का प्रयत्न किया गया है। इसमें भगवान् श्री कृष्ण के चरित्र का अनुशीलन तथा उनके गुण और शील का कथन किया गया है जिसका श्रवण और स्मरण करते ही भक्तों के हृदय में भक्तिभाव दृढ़ता को प्राप्त कर लेता है। इसलिए भाक्त दृष्टि से श्रीमद् भागवत का नाम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रूप में स्वीकार है।

स्कन्ध तथा अध्याय

श्रीमद् भागवत महापुराण में बारह स्कन्ध हैं। इन स्कन्धों के विषय में यह कहा जाता है कि ये भगवान् के अंगों के रूप में हैं जिससे सामान्य जन श्रीमद् भागवत की कथा सुनते हुए उनका ध्यान कर सकें। स्कन्धों के रूप में भगवान् का जो वर्णन किया गया है, उसके अनुसार प्रथम और द्वितीय स्कन्ध को भगवान् के चरण-कमल, तृतीय और चतुर्थ स्कन्ध को भगवान् की जंघाएँ, पाँचवे स्कन्ध को भगवान् की नाभि, छठे स्कन्ध को भगवान् का वक्षस्थल, सातवें और आठवें स्कन्ध को भगवान् की दोनों भुजाएँ, नवें स्कन्ध को भगवान् का कण्ठ, दसवें स्कन्ध को भगवान्

का ललाट तथा बारहवें स्कन्ध को भगवान् की मूर्धा कहा गया है।[1] इस रूप में श्री मद् भागवत में तीन सौ पैंतीस अध्यायों की गणना को मानते हैं। कुछ आचार्य अवश्य इस मत से भिन्न मत रखते हैं और यह कहते हैं कि इस पुराण में तीन सौ पैंतीस के स्थान पर तीन सौ बत्तीस अध्याय हैं।[2]

समय एवं रचनाकार

श्री मद् भागवत पुराण के रचना-समय के विषय में पर्याप्त मतभिन्नता है। मिताक्षरा, अपरार्क, कल्पतरु, स्मृतिचन्द्रिका जैसे सन्दर्भों में श्रीमद् भागवत से कोई उदाहरण नहीं लिए गए हैं। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि इस महा पुराण का रचना समय बहुत ही विवादग्रस्त है। यह इसकी रचना का समय पाचवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी के बीच का हो सकता है। श्री एस0एस0 शास्त्री ने यह मत दिया है कि श्रीमद् भागवत की रचना देवी भागवत पुराण के बाद हुई होगी।[3] जबकि श्री बी0 एन0 कृष्ण मूर्ति का यह निष्कर्ष है कि श्रीमद् भागवत की रचना का समय पाँचवी शताब्दी माना जा सकता है।[4] महामहोपाध्याय वामन पाण्डुरङ्ग काणे का यह अभिमत है कि यह पुराण पश्चात्कालीन

---

1. पादौ यदीयौ प्रथमद्वितीयौ तृतीयौ तृतीयतुर्यौ कथितौ यदूरू।
 नाभिस्तथा पंचम एव षष्ठो भुजान्तरं दोर्युगलं तथान्यौ ।।
 कण्ठस्तु राजन्। नवमो यदीयो मुखारविन्दं दशमं प्रफुल्लम्।
 एकादशो यश्च ललाटपट्टं शिरोऽपि यद् द्वादश एव भाति।।
 नमामि देवं करुणानिधानं तमालवर्णं सुहितावतारम् ।
 अपारसंसारसमुद्रसेतुं भजामहे भागवतस्वरूपम् ।। उद्धृत पु0त0 मी0, पृ0 146-147
2. वही0 पृ0 147
3. ए0 बी0 ओ0 आर0आई0 जिल्द 14, पृ0241-249
4. वही, पृ0 182-218

पुराण है क्योंकि कल्पतरु के मोक्षकाण्ड में भी इसका उल्लेख नहीं हुआ है जबकि उसी काण्ड में विष्णु पुराण से तीन सौ श्लोक उद्धृत किए गए हैं। इसलिए यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि श्रीमद्भागवत को नवीं शती के पूर्व रखने का कोई औचित्य नहीं है।[1]

श्रीमद्भागवत की रचना अवधि के सम्बन्ध में अन्य जो तर्क दिए जाते हैं उनमें यह कहा जाता है कि तेरहवीं शताब्दी के आचार्य शंकरानन्द ने गीता की तत्वार्थबोधिनी टीका में श्रीमद्भागवत के श्लोक उद्धृत किए हैं। इसी तरह से सांख्य सांख्यकारिका पर माठरवृत्ति लिखने वाले आचार्य ने भी अपनी वृत्ति में श्रीमद्-भागवत के श्लोक उद्धृत किए हैं। माठर का समय 577 से 567 के बीच का माना जाता है। इससे श्रीमद् भागवत को छठी शताब्दी के पूर्व रचित माना जा सकता है। भारतीय आस्था के आराधक यह कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण के परमधाम पधा-रने के बाद तीस वर्ष कलियुग बीत जाने पर श्री शुकदेव जी ने राजा परीक्षित को

---

1. ध0 इ0 ( ),पृ0 419

श्रीमद् भागवत सुनाई थी। इसीतरह यह कहा जाता है कि दो सौ साठ वर्ष कलियुग के बीत जाने पर सनत्कुमार ने नारद जी को श्रीमद् भागवत की कथा सुनाई थी।[1]

यह प्राय: कहा जाता है कि व्यास अठारह पुराणों के रचयिता हैं। पराशर के पुत्र व्यास और व्यास के पुत्र शुक पाण्डवों के समकालीन थे और यह समय द्वापर का समय कहा गया है।[2] किन्तु इसी क्रम में यह भी कथन प्रचलित हो गया कि श्रीमद् भागवत के रचयिता वोपदेव हैं।[3] आचार्य वोपदेव ने श्री मद् भागवत पर तीन ग्रन्थों की रचना तो की है किन्तु वे श्रीमद्भागवत पुराण के रचनाकार नहीं हैं। आचार्य मध्व ने भागवत तात्पर्य का विश्लेषण कियाहै। इनका समय 1200 ईसवीय है। तब वोपदेव नहीं हैं। श्रीरामानुजाचार्य ने वेद स्तुति में एकादश स्कन्ध के पद्य उद्धृत किए हैं। तब वोपदेव नहीं थे।[4]

---

1. पु० त० मी०, पृ० 163-164
2. ध० इ०, पृ० 394
3. श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं च मयेरितम्। विदुवा बोपदेवेन श्रीकृष्णस्य यशोन्वितम्।
   स०पृ०, पृ० 223
4. पु० वि०, पृ० 118

तृतीय अध्याय

(श्री मद् भागवत पुराण में वर्णित समाज)

तृतीय अध्याय

(श्रीमद् भागवत पुराण में वर्णित समाज)

1. आर्य, अनार्य, दानव, असुर

2. अन्य जातियाँ

3. वर्ण व्यवस्था :-

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र

4. आश्रम व्यवस्था :-

ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, संन्यास्थाश्रम

तृतीय अध्याय

॥ श्रीमद् भागवत पुराण में वर्णित समाज ॥

श्रीमद् भागवत् महाकाव्य एक ऐसा ग्रन्थ है जो श्री कृष्ण के अवतार की चर्चा तो प्रमुख रूप से करता है किन्तु इसके अतिरिक्त यह ग्रन्थ राजाओं, राजवंशों की परम्परा का विवरण देकर सामाजिक सन्दर्भों का भी संकेत करता है। उस काल में समाज की क्या स्थिति थी, किस प्रकार के लोग, किस रूप में में अपना जीवन व्यतीत करते थे और वे किस-किस नाम से पुकारे जाते थे -इस सन्दर्भ में सामाजिक स्वरूप विवरण भी श्रीमद् भागवत् पुराण में यत्र-तत्र देखा जा सकता है और जिसका समीक्षण कर तत्कालीन समाज का स्वरूप समझा जा सकता है।

आर्य - यह शब्द श्रेष्ठता का द्योतक है। इससे वह व्यक्ति अथवा वर्ग सम्बोधित होता है, जो अपने आचरण और व्यवहार में श्रेष्ठ है। इसका शाब्दिक अर्थ भी यही किया जाता है।[1] एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि म्लेच्छों से जो विपरीत हैं वे आर्य हैं[2]। श्री मद्भागवत् पुराण में एक स्थान पर आर्य शब्द का प्रयोग किया गया है । वहाँ पर भगवान शुक्र ने नाभाग के चरित्र कथन में आर्य शब्द का प्रयोग किया है। इन्हें अंगिरस के समूह पुत्रों का नाम भी दिया गया है।[3]

---

1. सं॰श॰ कौ0, पृ0 199

2. पौ0 को0 ,पृ0 48

3. नाभागो नभगापत्यं यं ततंभ्रातरः कविम् ।
 यविष्ठं व्यभजन् दायं ब्रह्मचारिणमागतम्।।
 भ्रातरो भाड्॰क्त किं मह्यंभजाम पितरंतव ।
 त्वां ममार्यास्तताभाङ्क्षुर्मा पुत्रक तदादृथाः।। भा0म0पु0 ,पृ0439

एक अन्य स्थान पर पूर्वकालीन राजवंशों का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि इस देश पर दस अमीर राजा सरसठ वर्ष तक राज्य करेंगें। कालवश उनके विनष्ट होने पर किलकिला नामक राजा होगें, जो यवन जाति के होगें। धर्म, काम, अर्थ तीनों दृष्टियों से आर्य लोग उनकी संस्कृति से विमिश्रित हो म्लेच्छ हो जायेगें और आश्रम धर्म के विपरीत कार्य करने लगेगें। इसके परिणाम में प्रजा नष्ट हो जायेगी और राजा लोभी तथा असत्यवादी हो जावेगें।[1]

मनुस्मृति में एक स्थान पर यह कहा गया है कि पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक से तथा हिमालय से दक्षिण एवं विन्ध्याचल से उत्तर के प्रदेश को ज्ञानी जन आर्यावर्त कहते हैं।[2] इसका अभिप्राय यह है कि इस क्षेत्र में आर्य निवास करते हैं और यह क्षेत्र आर्यों का है। श्री मद्भागवत् में भी जब अम्बरीष की परम्परा का कथन किया गया है तो आर्यावर्त् के राजाओं का संकेत किया गया है। इसी प्रकार से एक अन्य संकेत यह है कि महर्षि परशुराम ने उपद्रष्टा को कुछ भूमि का भाग प्रदान किया था जिस भूमि के भाग पर इक्ष्वाकु के पचीस पुत्रों ने शासन किया था।[3]

---

1. सप्तषष्टिस्तु वर्षाणि दशाभीरास्तथैव च।
   तेषूत्सन्ने कालेन ततः किलकिला नृपाः।।
   भविष्यन्तीह यवना धर्मतः कामतार्थतः।
   तैर्विमिश्रा जनपदा आर्या म्लेच्छाश्च सर्वशः।। म०पु०, पृ० 1052

2. आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
   तयोरेवान्तरं गिरयोरार्यावर्तं विदुर्बुधाः।। मनु०स्मृ०, पृ० 27

किया था।[1]

अनार्य -

श्रीमद्भागवत् पुराण में एक स्थान पर अनार्य शब्द का प्रयोग किया गया है और कहा गया है कि कोई पाखण्डी ऋषभदेव का अनुवर्तन करते हुए अनार्य वेद रहित परम्परा से अपनी बुद्धि से अन्यथा कल्पना कलियुग में कल्पित करेंगे।[2]

इस उदाहरण में हम यह देख सकते हैं कि अनार्य शब्द का दूसरा अर्थ पाखण्डी जैसा किया गया है, जो श्रेष्ठ मार्ग का अनुसरण नहीं करता। इस पुराण में इसी शब्द के समअर्थ को व्यक्त करने वाला म्लेच्छ शब्द का प्रयोग किया गया है। मत्स्य पुराण में यह कहा गया है कि जब राजा वेन का शरीर मथा गया तब उसके वाम भाग से ये म्लेच्छ उत्पन्न हुए थे। ययाति के पुत्र से इनका प्रारम्भ हुआ। इसके बाद दक्ष, तुर्वसु और द्रुह्यु से इनकी उत्पत्ति हुई।

---

1. तेषां पुरस्तादभवन्नार्यावर्ते नृपा नृप।
   पञ्चविंशतिः पश्चाच्च नयो मध्ये परेऽन्यतः।
   x x x x x
   अन्येभ्यो वान्तरदिशः कश्यपाय च मध्यतः।
   आर्यावर्तमुपद्रष्ट्रे सदस्येभ्यस्ततः परम्। भा0म0पु0, पृ0444, 462
2. भरतस्यात्मजः सुमतिर्नामाभिहितो यमु ह वाव केचित्पाखण्डिन ऋषभदेवमनुवर्तमानं चानार्या अवेदसमाम्नातां देवतां स्वमनीषया पापीयस्या कलौ कल्पयिष्यन्ति। भा0म0पु0, पृ028।

प्रचेता के सौ पुत्रों ने इन पर शासन किया था।[1] श्री मद्भागवत् में यह वर्णन है कि यदुवंश में प्रचेता की परम्परा थी। इस परम्परामें म्लेच्छ अधिपति थे। इस क्रम में तुर्वसु के पुत्र वह्नि, वह्नि के पुत्र भर्ग और भर्ग के भानुमान् का नाम है।[2]

इसी पुराण में एक स्थान पर यह निरूपण किया गया है कि विश्वामित्र के एक सौ एक पुत्र थे। उन्होंनें शुनः शेप को अपना पुत्र मानकर यह कहा कि तुम इसे अपना ज्येष्ठ भाई मानों। जब उन्होंनें यह आज्ञा स्वीकार नहीं की तब ऋषि ने क्रोध में आकर उन पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र मधुच्छन्द को यह श्राप दिया कि तुम म्लेच्छ हो जाओ।[3]

---

1. यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनाः सुताः।
   द्रुह्योश्चैव सुता भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातयः।।
   x x x x x
   जनयामास धर्मात्मा म्लेच्छान् सर्वाननेकशः।
   स सृष्ट्वा मनसा दक्षः स्त्रियः पश्चादजीजनत्।। म0पु0 ,पृ015,125
2. म्लेच्छाधिपतयोऽभूवन्नुदीचीं दिशमाश्रिताः।
   तुर्वसोश्च सुतोबह्निर्बह्नेर्भर्गोऽथ भानुमान्।। भा0म0पु0,पृ0 472
3. पुत्रीकृत्वा शुनः शेपं देवरातं च भार्गवम्।
   आजीगर्तं सुतानाह ज्येष्ठ एष प्रकल्प्यताम्।।
   ये मधुच्छन्दसो ज्येष्ठा कुशलंमेनिरे न तत्।।
   अशपत् तान् मुनिः क्रुद्धो म्लेच्छा भवत दुर्जनाः।। भा0म0पु0 ,पृ0468

दानव -

आचार्य मनु जब देवताओं और दानवों की उत्पत्ति का क्रम लिखते हैं तो वे यह निरूपण करते हैं कि दैत्य, दानव , यक्ष, गन्धर्व , राक्षस, सुपर्ण , किन्नरों के पिता अत्रि के पुत्र वर्हिषद कहे गए हैं। मरीची आदि ऋषि इनके पिता हैं, क्योंकि पितरों से देवता और दानव की उत्पत्ति हुई और फिर बाद में देवताओं से सभी जगत क्रम से उत्पन्न हुआ।[1]

श्री मद्भागवत पुराण में भगवान् के नृसिंह रूप के पराक्रम का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि उन्होंनें अपने नाखूनों से दैत्येन्द्र का उदर विदीर्ण कर दिया[2]। इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर यह संकेत है कि दिति से उत्पन्न दानव महान् ओजस्वी, साहसी और भगवान हरि की तरह तेज से युक्त हैं।[3]इस रूप में बलशाली और पाताल में रहने वाले दैत्य दिति के पुत्र और हरि के सदृश तेजवाले कहे गए हैं।

---

1. दैत्यदानव यक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदो त्रिजा:।।
x x x x
ऋषिभ्य: पितरा जाता: पितृभ्यो देवदानवा:।
देवेभ्यस्तु जगत् सर्व चरं स्थाण्वनुपूर्वश: ।। म0स्मृ0, पृ0।।7,।।8

2. त्रैविष्टपोरुभयहा स नृसिंहरूपं कृत्वा भ्रमद्भ्रुकुटिदंष्ट्रकरालवक्त्रम्।
दैत्येन्द्रमाशु गदयाभिपतन्तमारादूरौ निपात्य विददार नखै: स्फुरन्तम्।।
भा0म0पु0, पृ0।0।

3. ततो यास्ताद्रसातले दैतेया दानवा: पर्णयो नाम निवातकवचा: कालेयां हिरण्यपुरासिन इति विबुधप्रत्यनीका उत्पत्त्या महौजसो महासाहसिनो भगवत: सकल लोकानुभावस्य हरेरेव तेजसा प्रतिहतबलाव-लेपा-----------------। वही ,पृ0 300

असुर -

मत्स्य पुराण में एक स्थान पर देवताओं के पूजन का क्रम आया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि बत्तीस देवता वाह्य देवता है और मनुष्य को इनके विषय में जानकर उनकी पूजा करनी चाहिए। ये हैं-शिखी, पर्जन्य ,जयन्त ,इन्द्र, सूर्य,सत्य,भृश ,अन्तरिक्ष, वायु ,पूषा वितथ,बृहत्क्षत, यम, गन्धर्व,भृगुराज, मृग, पितृगण, दौवारिक ,सुग्रीव ,पुष्पदन्त,जलाधिप, असुर,शोष, पाप,रोग, अहि, मुख्य,भल्लाट, सोम,सर्प, अदिति और दिति। इस वर्णन में यह दिखाई देता है कि असुर देवताओं के रूप में भी पूजित थे।[1]

श्री मद्भागवत में जब असुरों का उल्लेख आया है तो यह कहा गया है कि वे सभी उशना के मत का अनुसरण करते हैं। देवताओं का प्रतीकार करते हैं। ये महमत्त स्वभाव वाले हैं और आततायी होते हैं।[2] इस रूप में इनका स्वभाव देवताओं से भिन्न है और इसी कारण ये देवताओं से द्वेष करते हैं तथा देवगुरु के मत का अनुसरण भी नहीं करते।

1· शिखी चैवाथपर्जन्यो जयन्त: कुलिशायुध: ।
सूर्यसत्यौ भृशश्चैव आकाशो वायुदेव च ।।

दौवारिकोऽथ सुग्रीव: पुष्पदन्तो जलाधिप: ।
असुर: शोषपापौ च रोगो हि मुख्य एव च ।। म०पु० ,पृ0784

2· तच्छ्रुत्वैवासुरा:सर्व आश्रित्यौशनसं मतम् ।
देवान् प्रत्युद्यमं चक्रुर्दुर्मदा आततायिन:।। भा० म०पु० ,पृ0320

एक अन्य स्थान पर श्री मद्भागवत में यह कहा गया है कि असुर मातुधान के नाम से जाने जाते हैं और इनकी प्रवृत्ति वैदिक यज्ञों का विरोध करने की है।[1] इनके द्वारा यज्ञ का विरोध इसलिए किया जाता है क्योंकि वैदिक परम्परा देववादी है और देवताओं से इनकापारम्परिक विरोध है। एक अन्य स्थान पर यह संकेत किया गया है कि असुरों का निवास स्थान पाताल लोक है। वहाँ पर यह कहा गया है कि देवताओं के लिए स्वर्ग निर्मित हुआ, सभी प्राणियों के लिए भू है। इसी प्रकार से मर्त्यलोक के निवासियों के लिए भूलोक , सिद्धों के लिए इन तीनों से परे लोक की रचना की गई। असुरों के लिए अधोलोक ,नागों के लिए भूमि का निर्माण प्रभु ने की । इस क्रम के अतिरिक्त सभी लोग अपने -अपने त्रिगुणात्मक कर्मों से त्रैलोक्य में निवास करते हैं । इस रूप में यह दिखाई देता है कि असुरगणों का निवास स्थान मर्त्यलोक नहीं है, अपितु वे पाताल लोक में रहते हैं । ये भी देव विरोधी ही कहे जायेगें क्योंकि इनकायज्ञों से विरोध होता है । वैदिक यज्ञ इनकी मानसिकता के अनुकूल नहीं है।

---

1. इति मन्त्रोपनिषदं व्याहरन्तं समाहितम् ।
   दृष्ट्वासुरा यातुधाना जग्धमभ्यद्रवन क्षुधा।। भा0म0पु0,पृ0 388

2. सोऽसृजन्तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात् ।
   लोकानां सपालान् विश्वात्मा भूर्भुवः स्वरितित्रिधा।
   देवानामोक आसीत स्वर्भूतानां च भुवः पदम् ।
   मर्त्यादीनां च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात् परम ।।
   अधोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत प्रभुः ।
   त्रिलोक्यां गतयः सर्वा कर्मणां त्रिगुणात्मनाम ।।
   वही, पृ0 714

अन्य जातियाँ -

श्री मद्भागवत् में अनेक जतियों का संकेत किया गया है। जैसे भोजवंश का संकेत अधिक रूप में है। यह वंश वह था जिसमें कंस पैदा हुआ था और जिसे यदुवंस भी कहा जाता था। यह पाण्डवों के साथ सम्बंधित था, जब कंस को अपनी भगिनी के आँठवे गर्भ से उसके मारने वाले के उत्पन्न होने का पता चला तो वह नि:संकोच अपनी भगिनी का वध करने के लिए तलवार लेकर खड़ा हो गया।[1] वह कंस भोजवंश में कुल ध्वंसक था। जब वह अपनी भगिनी का वध करने लगा था तो वसुदेव ने उसे श्लाघनीय गुण वाला, शूरवीर कहा था। साथ ही यह विश्वास व्यक्त किया था कि ऐसे वीर भला स्त्री पर हाथ कैसे उठायेगा। यह यदुवंशीय भोजकुलीय राजा उग्रसेन का पुत्र था।[2]

एक अन्य स्थान पर राजवंश का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि महाभोज राजा धर्मात्मा था और इसी के वंश में भोज उत्पन्न हुए ।[3] एक दूसरे स्थल पर यह वर्णित है कि भोज, वृष्ण, अन्धक, शूरसेन आदि ऐसे हैं जो सदा श्लाघनीय रहेंगें।[4]

---

1. इत्युक्त: स खल: पापो भोजानां कुल पासन:।
   भगिनी हन्तुमारब्ध: खड्पाणि: कचेऽग्रहीत् ।।
   भा०म०पु०, पृ० 478

2. श्लाघनीयगुण: शूरैर्भवान् भोजयशस्कर: ।
   स कथं भगिनी हन्यात् स्त्रियमुद्वाहपर्वणि।
   उग्रसेनं च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम् ।
   स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबल:।।
   वही, पृ० 479, 450

3. वही, पृ० 473
4. वही, पृ० 475

इस महापुराण के सन्दर्भ में एक स्थल पर यह भी उल्लेख है कि कंस ने भगवान कृष्ण से सम्बंधित भोगों को मारने का भी मन बनाया था। जब कंस ने श्री अक्रूर को यह कहा कि तुम ब्रज से जाकर कृष्ण को ले आओ। मैं पहले तो उन्हें हाथी से कुचल कर मारूँगा और यदि वे इस पर भी बच गए तो मैं मल्लयुद्ध में मैं उनका वध करूँगा। इसके बाद उनके जो सम्बंधी भोज होगें, मैं उनका भी बध करूँगा।[1] और अंत में इस सम्पूर्ण वंश के विनष्ट हो जाने का अद्भुत विवरण भी इस पुराण में किया गया है। इसमें कहा गया है कि प्रद्युम्न ,साम्ब, अक्रूर ,भोज,अनिरुद्ध,सात्यकी आदि जितने थे वे सभी गदा लेकर आपस में ही संघर्षरत् हुए और अन्ततः सभी विनाश को प्राप्त हुए।[2]

अन्य स्थानों पर यह कहा गया है कि हैहय वंश की पाँच शाखाओं में से एक शाखा भोजवंश की थी जो ययाति के पुत्र द्रुह्य से प्रारम्भ हुई थी। वहाँ पर प्रत्येक वंश का क्रम वर्णन कर यह कहा गया है कि यदु से यादव, तुर्वसु से यवन, द्रुह्यु से भोज और अनु से म्लेच्छ जातियाँ हुई। पुरु से

---

1. तयोर्निहतयोस्तप्तान वसुदेवपुरोगमान् ।
   तद्बधून-निहनिष्यामि वृष्णिभोज दशार्हकान्।।

   भा0म0पु0, पृ0547

2. प्रद्युम्नसाम्बौ युधिरुद्धमत्सरावक्रूरभोजावनिरुद्ध सात्यकी।
   सुभद्रसंग्रामजितौ सुदारुणौ गदौ सुमित्रा सुरथौ समीयतुः।।
   दाशार्ह वृष्ण्यन्धकभोजसात्वता मध्वर्बुदा माथुरशूरसेनाः।
   विसर्जनाः कुकराः कुन्तयश्च मिथस्ततस्तेऽथ विसृज्य सौहृदम् ।।

   भा0म0पु0 ,पृ0726

जो वंश चला था वह कुरुकुल में सम्मिलित हुआ और बाद में वही कौरव वंश कहलाया।[1]

एक अन्य जाति मद्रक का भी उल्लेख श्रीमद् भागवत् पुराण में किया गया है। यह जाति है मद्रक जाति। यह जाति भीम के युद्ध में पाण्डवों के साथ थी। भगवान् श्री शुक इसका कथन करते हुए कहते हैं कि जब श्रीकृष्ण से जब पाण्डवों ने उपदेश सुन लिए तब राजा ने सभी भाईयों को दिग्विजय करने के लिए नियुक्त कर दिया। उन्होंनें सहदेव को दक्षिण दिशा में नियुक्त किया। प्रतीची दिशा में नकुल को नियुक्त किया, उदीची दिशा में सव्यसाची को नियुक्त किया और प्राची दिशा में वृकोदर भीम को नियुक्त किया। इसके साथ मद्रक भी युद्ध में थे।[2]

अन्य स्थानों पर भी यह संकेत मिलता है कि मद्रक एक जाति विशेष थी जो पुरंजय के द्वारा शासकों की श्रेणी में परिवर्तित कर दी गई थी।[3] इसके राज्य का नाम मद्रक अथवा माद्रक था।[4]

- -

1. यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनाः सुताः ।
द्रुह्योश्चैव सुता भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातयः।।
पूरोस्तु पौरवो वंशो यत्र जातोऽसि पार्थिव।
इदं वर्ष सहस्त्रात् तु राज्यं कुरु कुलागतम् ।। म०पु०, 34 /30-31, ब्रह्मा० 30/69/52

2. निशम्य भगवद्गीतं प्रीतः फुल्लमुखाम्बुजः।
भ्रातृन् दिग्विजयेऽयुङ्क्त विष्णुतेजोपबृंहितान् ।।
सहदेवं दक्षिणस्यामादिशत् सह सृञ्जयैः।
दिशि प्रतीच्यां नकुलमुदीच्यां सव्यसाचिनम्।।
प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः केकयैः सह मद्रकैः ।। भा०म०पु०,पृ०625

3. म०पु०,पृ०387, ब्रह्मा० 3/74/19।

4. वि०पु० 4/18/10, म०पु०99/23-24

मधुगणों का उल्लेख श्रीमद्भागवत पुराण में अनेकशः प्राप्त होता है। यह भी एक जाति विशेष थी और इसके अधिपति श्रीकृष्ण थे[1]। ये पांडवों के सम्बंध में आते थे क्योंकि श्री युधिष्ठर ने स्वयम् एक स्थान पर इनकी कुशलता की जिज्ञासा की है। ये ऐसे शूरवीर थे जिन्होंने अपने पराक्रम से अन्य जातियों के साथ मिलकर द्वारिका की रक्षा की थी।[2] अन्त में यदुवंशियों के साथ इनके भी संघर्ष की चरचा है और यह संकेत है कि ये भी यदुवंश के साथ विनाश को प्राप्त ~~करके~~ हुए थे।[3]

एक और जाति उस समय भारत में थी, जिसे शक के नाम से जाना जाता है। यह एक सम्वत् का भी नाम है जिसे ईसा से 78 वर्ष के बाद में राजा शालिवाहन ने चलाया था।[4] शक जाति का कथन श्री मद्भागवत में अनेकशः किया गया है। यह जाति राजा नरिष्यंत से चली और वर्णाश्रम धर्म से च्युत होने के कारण म्लेच्छ हो गई। इन्हें बाद में राजा सगर ने अपने राज्य से निर्वासित कर दिया था।[5] इस स्थिति में शक जाति के लिए यह संकेत है कि तत्कालीन समय में यह वर्णाश्रम धर्म का पालन नहीं कर रही थी और इसीलिए इसे म्लेच्छ भी कहा जाने लगा था। तब सम्भवतः म्लेच्छ वर्णाश्रम धर्म का पालन नहीं करते थे।

---

1. त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत।
   रतिमुद्वहतादद्धा गंगेवौघमुदन्वति।। भा0म0पु0,पृ063

2. वही 1/14/25, 9/24/63

3. वही 11/30/18

4. पौ0 को0,पृ0484

5. भा0म0पु0 8/13/2 ब्रह्मा0 3/60/3

वर्णव्यवस्था -

वर्णव्यवस्था भारतीय परम्परा की सर्वाधिक प्राचीन परम्परा है। 'ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद' जैसा ऋग्वैदिक कथन इस परम्परा का प्राचीनतम कथन है।[1] इसी को अनेक उपनिषदें अपने-अपने रूप में संकेतित करती हैं। बृहदा-रण्यक उपनिषद् में एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि विश्व की आदि सत्ता ब्रह्म है। इसने अपने एकाकीपन के भाव से उबरने के लिए क्षत्रिय वर्ग की सृष्टि की। इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र आदि देवताओं की सृष्टि में ये सभी क्षत्रिय वर्ग में आते हैं। पुनः उस ब्रह्म ने वसु, रुद्र, आदित्य आदि वैश्यवर्ग की सृष्टि की। इसके बाद उस ब्रह्म ने स्वर्ग में शूद्रो की भी उत्पत्ति की। इसी स्वर्ग-विधान के अनुसार ही पृथ्वी पर वर्ण-विधान हुआ।[2]

श्री मद्भगवत गीता में वर्ण व्यवस्था का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह निरूपण है कि भगवान् ने सृष्टि के निर्माण में प्रत्येक के गुण और कर्म का विभागशः निरूपण कर चार वर्णों की सृष्टि की है।[3] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा विभक्त किए गए हैं।

---

1. ऋग् 10/90/12, यजु0 31/11, 26/2
2. ई0द्वा0उ0, पृ0281-282
3. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
   तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।
   × × × ×
   ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
   कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।
   भ0गी0, पृ075, 254

आचार्य मनु ने इस वर्ण-व्यवस्था का जो संकेत किया है वह ऋग्वेद में किए गए संकेत के अनुरूप है, वे लिखते हैं कि महा तेजस्वी प्रतिभा-शाली परमात्मा ने मानवों के मुख, हस्त, जघाएँ तथा पैरों से उत्पन्न वर्णों के लिए ही पृथक्-2 कर्मों का निरूपण किया है।[1]

पुराणों में भी चातुर्वर्ण्य का संकेत किया गया है। ये चारों हैं- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र। कहा गया है कि भगवान् विष्णु इस वर्ण व्यवस्था के प्रवर्तक तथा रक्षक हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम इस व्यवस्था का प्रवर्तन किया था और वे ही निरन्तर इसकी रक्षा करते हैं।

विष्णु पुराण में मैत्रेय को उपदेश करते हुए महर्षि कहते हैं कि सत्ययुक्त जगतकर्ता ब्रह्मा जी के मुख से सत्त्वगुण युक्त प्राणियों ने जन्म लिया। छाती से रजोगुणयुक्त प्रजा उत्पन्न हुई थी। इसके साथ ही पैरों से तप: प्रधान लोगों की उत्पत्ति हुई। ये सब मिलकर चारों वर्ण हो गए। ये चारों वर्ण हैं- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र।[3] इस रूप में यह कहना संगत होगा कि चतुर्वर्ण की व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर प्राचीनकाल से ही प्रारम्भ हुई थी और इस वर्ण व्यवस्था के अंगों का कथन किया गया था।

---

1. सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युति:।
   मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्।।

   म0स्मृ0, पृ017

2. ब्रह्मा. 2/37/5, 3/72/35

3. ब्राह्मणा: क्षत्रिया वैश्या:शूद्राश्च द्विजसत्तम्।
   पादोरुवक्षस्यातो मुखतश्च समुद्गता:।।
   यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार वै।
   चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम् ।।

   वि0पु0 1।6 ,पृ079

ब्राह्मण-

ब्राह्मण, वर्णव्यवस्था में श्रेष्ठतम् वर्ग के रूप में प्रारम्भ से ही मान्य हैं। ऋग्वेद में कहा गया है कि जो राजा ब्राह्मणों को आदर देता है और उन्हें दानदेता है , वह सदा सुखी रहता है।[1] तैत्तरीय संहिता में यह कहा गया है कि ब्राह्मण ऐसे देव हैं जिन्हें हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं।[2] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि ब्राह्मणों में चार विलक्षण गुण होते हैं- ब्राह्मण्य, पवित्राचरण, यज्ञ तथा लोकपंक्ति। इस रूप में जब व्यक्ति ब्राह्मणों से शिक्षा प्राप्त करता है तो वह ब्राह्मणों को चार अधिकार देता है- अर्चा, दान, अजेयता तथा अवध्यता।[3]

उपनिषद्काल में भी ब्राह्मण की यही श्रेष्ठता वर्णित है। वहाँ पर एक स्थान पर यह कहा गया है कि जो ब्राह्मण की हिंसा में प्रवृत्त होता है, वह क्षत्रिय अपनी योनि खो देता है। जो क्षत्रिय ब्राह्मण की हत्या करता था उस क्षत्रिय को पापी कहा जाता था।[4] ब्राह्मण के लिए अक्षर ज्ञान की अत्यधिक महत्ता कही गई है। जब ब्राह्मण को अक्षर ज्ञान होता था तभी उसका

1- अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रति जन्यान्युत या सजन्या।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः।।

ऋग् 4/50/9

2. तै.सं. 1/7/3/1

3. प्रज्ञावर्धमाना चतुरोधर्मान् ब्राहमणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्या यशो लोकपंक्ति लोकः । पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैर्ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च ।

श०ब्रा०11/5/7/1

ई०द्रा०उ०,पृ०28।

ब्राह्मणत्व स्वीकार किया जाता था। इसका संकेत इस रूप में किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता {अक्षरवेत्ता} हो वह एक हजार गौयें प्राप्त करे।[1] {तैत्तरीय उपनिषद् में विद्वान् ब्राह्मण की निर्भयता का संकेत दिया गया है। जिसमें यह कहा गया है कि ब्रह्म को जानने वाला विद्वान् ब्राह्मण किसी से भयभीत नहीं होता। वह अपनी आत्मा को सबल बनाये रहता है।[2]

तब ब्राह्मण की पहचान सम्भवतः सत्य भाषण से की जाती थी क्योंकि सत्यकाम जाबाल ने अपने गोत्र को न जानने पर भी गौतम के सामने सत्य स्थिति को स्पष्ट कर दिया था। इसके फलस्वरूप ऋषि गौतम ने कहा था कि ब्राह्मण से इतर कोई अन्य ऐसा सत्य स्वीकार नहीं कर सकता है।[3]

श्री मद्भागवत् पुराण में भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये गए हैं और इसमें यह कहा गया है कि भगवान् के स्वरूप की अवधारणा करने के बाद यह जानना चाहिए कि इसी भगवान का मुख ब्राह्मण रूप है।[4]

- -

1. तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मनिष्ठः स एता मा उद्वतामिति। ई0द्वा0उ0, पृ0 317
2. ऐ0 उ0 ,पृ0 92
3. छान्दो0 पृ0 384
4. ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा विड्रूरुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः।
   नानाभिधाभीज्यगणोपन्नो द्रव्यात्मकः कर्म वितानयोगः।।
   x x x x
   मूलं हि विष्णुर्देवानां यत्र धर्मः सनातनः ।
   तस्य च ब्रह्मगोविप्रास्तपोयज्ञाः सदक्षिणाः।।
   भा0म0पु0,पृ097,487,396

पुराण काल में अवश्य ही ब्राह्मण की श्रेष्ठता प्रतिपादित है क्योंकि यह कहा गया है कि ब्राह्मण जन्म से ही गुरु होता है।[1] वह केवल स्वयम् ही संस्कारवान् नहीं होता था अपितु दूसरों को संस्कार देकर श्रेष्ठ बनाने का कार्य भी वही करता था।

श्री मद्भागवत पुराण में ब्राह्मणों के कर्तव्यों का भी विस्तार पूर्वक निरूपण किया गया है और ये वही कर्तव्य हैं, जिन्हें भारतीय परम्परा में अनेकशः कहा जा चुका है। सर्व प्रथम तो यही आवश्यक है कि विप्र में अविच्छिन्न रूप से संस्कार होने चाहिए। वह यज्ञ का सम्पादन करता हो, अध्ययन में प्रवृत्त हो, दान देता हो। जन्म और कर्म से वह श्रेष्ठ होवे। उसकी क्रियाएँ आश्रम व्यवस्था के अनुकूल होवें।[2] इसी के साथ में इस पुराण में यह कहा गया है कि स्वभाव कठिन होता है। स्वभाव के अनुसार ही व्यक्ति कर्म में प्रवृत्त होता है। इसलिए ब्राह्मण का भी एक स्वभाव होता है और वह अपने स्वभाव के अनुसार ही कर्म करता है। इसलिए यह कहा गया है कि ब्राह्मण स्वभाव के अनुसार ही अपने जीवन में आचरण करे।[3]

- -

1. त्वं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठः संस्कारान् कर्तुमर्हसि।
   बालयोरनयोर्नॄणां जन्मना ब्राह्मणो गुरुः ।।
   भा० म० पृ० 493

2. संस्कारा यत्राविच्छिन्नाः स द्विजो ऽजो जगाद यम् ।
   इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम् ।।
   जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः ।। वही, पृ० 576

3. वही, पृ० 528

आचार्य कौटिल्य ने वर्ण-धर्मों का निरूपण करते हुए ब्राह्मण के धर्मों कर्तव्यों में अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह का उल्लेख किया है। बाद में उन्होंने आश्रम-धर्म के वर्णन के क्रम में यह कहा है कि अहिंसा सत्य, शौच, असूया, आनृशंस तथा क्षमा ये ऐसे कर्तव्य हैं जो सभी के द्वारा पालनीय है।[1]

श्री मद् भगावत पुराण में इन धर्मों/कर्तव्यों का कथन ब्राह्मणों के लिए आवश्यक रूप से किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, शान्ति, आर्जव, ईश्वर भक्ति, दया, सत्य ये ब्राह्मण की प्रवृति है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण इन धर्मों का पालन किसी परिस्थिति अथवा दबाव वश नहीं करता अपितु वह इनका पालन अपने स्वभाव के वश में आकर करता है क्योंकि सभी अपने-अपने स्वभाव के वश में होकर कार्य करते हैं। इसके साथ ही यह ध्यातव्य हैं कि जो कार्य स्वभाव वश किए जाते हैं वही श्रेष्ठ होते हैं। ब्राह्मण इसीलिए श्रेष्ठ है क्योंकि यह श्रेष्ठ धर्मों का पालन अपने स्वभाव से करता है।

- -

1. स्वधर्मो ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति ।
सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमनसूया नृशंस्यं क्षमा च ।

कौ० अ०, पृ० 12,14

2. वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणी ।
आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमा: ।
शमो दमस्तप:शौचं सन्तोष: क्षान्तिरार्जवम् ।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमा: ।।

भा० म० पु०, 699-700

क्षत्रिय

क्षत्रिय भगवान् के भुजाओं से उत्पन्न हुए हैं- यह वेद का संकेत है। उपनिषद् इस सन्दर्भ में यह कहती है कि ब्रह्म ने अकेले होने पर विभूतियुक्त कर्म करने में स्वयम् को असमर्थ पाया इसलिए सामर्थ्य से युक्त क्षत्रिय की उत्पत्ति की। इस उत्पत्ति के साथ ही यह कहा गया कि क्षत्रिय से बढ़कर कोई नहीं है। इसीलिए राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करते हैं और उसी में ब्रह्मभाव का अनुभव करते हैं।[1]

इससे यह प्रतीत होता है कि तब के समाज में क्षत्रिय का पर्याप्त सम्मान था। तब यद्यपि ब्रहमविद्या पर ब्राहमण का ही अधिकार माना गया है, किन्तु यह भी दिखाई देता है कि क्षत्रियों ने भी विविध विद्याओं का उपदेश किया है। प्रवाहन के नाम के एक राजा ने गौतम से कहा था कि पूर्वकाल में यह विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं गई। पहले सर्वत्र सभी क्षेत्रों में क्षत्रियों का ही आधिपत्य था।[2] प्रश्नोपनिषद् में एक स्थान पर यह कहा गया है कि जैसे रथ की नाभि में अरे लगे रहते हैं वैसे ही चार वेद ब्राह्मण, क्षत्रिय में है।[3]

- -

1. ई0 द्रा0उ0, पृ0 28।

2. त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्माद् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै हो वाच ।

छान्दो0 पृ0 479

3. अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ।।

प्र0उ0, पृ0 36, हि0 स0, पृ0 112

उस समय के समाज में क्षत्रिय ही राजा होते थे और उनकी सम्पत्ति का प्रयोग दान धर्म आदि के कार्यों के लिए होता था। राजा जनक ने अपने द्वारा किए गए कर्म में सहस्त्रों गौएँ दान में दी थीं और याज्ञवल्य के लिए भी इसी तरह से गाएँ देने का प्रस्ताव किया था।[1] इसी प्रकार एक प्रस्ताव रैक्व के लिए भी दिखाई देता है।[2]

क्षत्रियों की उत्पत्ति के सम्बंध में पुराणों में यह कहा गया है कि इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा की वक्षस्थल से हुई थी।[3] एक पुराण में यह कहा गया है कि इनके दो वंश थे - एक सूर्य वंश और दूसरा चन्द्रवंश । श्री मद्भागवत महापुराण में विशदरूप से इन क्षत्रियों के कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। क्षत्रिय के कर्मों का विस्तार से वर्णन करते हुए यह कहा गया है क्षत्रिय में शौर्य,वीर्य, धृति ,तेज ,त्याग , विजय,क्षमा,ब्राह्मण , स्वभाव ,प्रसन्नता और रक्षा करने का दायित्व होना चाहिए। [4] इन कर्मों का सम्पादनकरता हुआ क्षत्रिय अपने वर्ण से सम्बोधित किये जाने का अधिकारी है।

विष्णु पुराण में महर्षि पराशर ने क्षत्रियों के स्वरूप का वर्णन करते हुए यह लिखा है कि शस्त्रधारण करते हुए पृथ्वी की रक्षा करना क्षत्रिय

---

1. 2. ई0द्वा0उ0,पृ0 317, 321

2. छान्दो0 4/2/4

3. ब्रह्मा0 2/5/108 ,वा0पु054/112,30/83

4. शौर्य वीर्य धृतिस्तेजस्त्याग आत्मजयः क्षमा।
ब्रहमण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम् ।।
भा0म0पु0 ,पृ0 376

की श्रेष्ठ आजीविका है। इसमें भी पृथ्वी का परिपालन अत्युत्तम कर्म है । पृथिवी का पालन करते हुए राजागण धन्य हो जाते हैं क्योंकि पृथिवी पर जो यज्ञादि कार्य होते हैं उनका अंश राजा को भी मिलता है। जो राजा अपने वर्ण-धर्म के प्रति आस्थावान् होता है वह दुष्ट को दण्ड और साधुजन का पालन करने से समाज में सम्मान का पात्र बनता है।[1]

मत्स्यपुराण में यह कहा गया है कि भगवती पार्वती ने जब अपने एक सौ आठ नामों की गणना बताई, तब उन्होंने यह कहा कि इनका स्मरण देव, दैत्य, ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय भी करते हैं और वे मनो - वांछित फल प्राप्त करते हैं। एक अन्य संकेत में यह कहा गया है कि सूर्य मंडल में मरीचिगर्भ नाम से प्रसिद्ध अन्य एक लोक है वहाँ अंगिरा के पुत्र हविष्मान् पितर के रूप में निवास करते हैं । ये राजाओं के पितर हैं। जो तीर्थादि जाते हैं वे इस लोक को प्राप्त करते हैं।[2] इस प्रकार क्षत्रिय वर्ण महत्त्वपूर्ण और रक्षा करने वाला वर्ण पुराणकारों के मन में संकेतित है।

- -

1. शस्त्राजीवो महीरक्षा प्रवरातस्य च जीविका ।
   तत्रापि प्रथमः कल्पः पृथिवीपरिपालनम् ।।
   धरित्रीपरिपालनेनैव कृतकृत्याः नराधिपाः।
   भवन्ति नृपतेरंशा यतो यज्ञादि कर्मणाम् ।।
   वि० पु० ‖1‖, पृ० 403-404

2. तथान्ये देवदैत्याश्च ब्राह्मणाः क्षत्रियास्तथा।
   × × × ×
   पितरो यत्र तिष्ठन्ति हविष्मन्तोऽङ्गिरः सुतः
   × × × ×
   तीर्थश्राद्धप्रदा यान्ति ये च क्षत्रियसत्तमाः ।।
   म० पु० ‖1‖, पृ० 47, 5।

वैश्य -

ब्रह्म के द्वारा सृष्टि के विस्तार का जो क्रम कहा गया है उसी क्रम में यह भी प्राप्त होता है कि ब्रह्म अपने ऐश्वर्य का सम्पादन बिना विश् के नहीं कर सकता। इसीलिए उसने ही वैश्य की उत्पत्ति की। वैश्यों में वसु, रुद्र, आदित्य और विश्वेदेवा की गणना की गई है, जिस पर आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में यह निरूपित किया है कि सृष्टि में धनोपार्जन की व्यवस्था के लिए इन देवताओं की गणना वैश्यों में की गई है। छान्दोग्योपनिषद् में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को द्विजाति में गिन कर यह बताया गया है कि वैश्य जाति में वही जन्म लेता है जिसके आचरण श्रेष्ठ होते हैं।[1]

श्री मद्भागवत् में वैश्यों को भगवान ब्रह्मा के उरु का अंश माना गया है। दूसरी जगह यही कहा गया है कि वैश्य भगवान के उरु से उत्पन्न हुआ है। वैश्य के लिए उसके अपने कर्म उस समय के समाज में निर्धारित थे। जैसे स्मृतिकारों के अनुसार वैश्य को पशुओं की रक्षा करनी चाहिए, खाद्य पदार्थों का संरक्षण करना चाहिए, दान देने में अपनी प्रवृति रखनी चाहिए यज्ञ कराने में स्वभावतः रुचि होनी चाहिए। वैश्य को विद्या अध्ययन करनी चाहिए, उसे व्यापार कर्म के साथ कृषि कर्म करना चाहिए।[1] यही समाज

- -

1. छान्दो०, पृ० 529

2. ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा विड्रूरुरङ्घ्रिश्रितकृष्ण वर्णः ।
   x x x x x x
   उरुर्वोविडोजोऽङ्घ्रिरवेद ....

   भा०म०पु०, पृ० 91, 376

3. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
   वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।।

   म०स्मृ०, पृ० 18

यही समाज की दृष्टि से वैश्य के कार्य स्मृतिकार मानते हैं।

श्री मद् भागवत पुराण में वैश्य के लिए निर्धारित कर्तव्यों का निरूपण किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि वैश्य की वृत्ति वार्ता-वृत्ति होगी और यह नित्य प्रति ब्रह्म कुल का अनुगमन करने वाला होगा।[1]

वार्ता एक विद्या के रूप में स्वीकृत है। आचार्य कौटिल्य ने आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति को विद्या कहा है।[2]

वार्ता विद्या का विस्तार से निरूपण कर आचार्य ने यह लिखा है कि कृषि, पशुपालन, वाणिज्य विद्या वार्ता विद्या है। यह विद्या धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्र आदि खनिज पदार्थों तथा सेवक-सेविकाओं को देने वाली पर उपकारिणी है।[3] तब, इस रूप में यदि देखा जाए तो वैश्य समाज का वह अंग था जिस पर समाज के अन्य वर्ग आश्रित थे। कृषि का कार्य इसी के पास था और व्यापार भी उसी के पास था। कृषि ही जीवन का आधार देने वाली है तथा व्यापार से ही पूरे समाज का कार्य-व्यवहार चल पाता है।

---

1. वैश्यस्तु वार्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः।
   भा० म० पु०, पृ० 376
2. आन्वीक्षकी त्रयीवार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः।
   कौ० अ०, पृ० 10
3. कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता। धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टि - प्रदानादौपकारिकी। वही, पृ० 15

शूद्र

शूद्र वर्ण का महत्त्व इसी तथ्य से समझा जा सकता है कि ब्रह्म ने सभी की उत्पत्ति करने के पश्चात् यह विचार किया कि बिना किसी के वह अपने ऐश्वर्य का विस्तार नहीं कर सकता। इसलिए इसे मुख्य रूप से श्रम से जोड़ा गया। शूद्र के देवता पूषा के क्रम में यह कहा गया कि यही सबका पोषण करता है। इसलिए पूषण किए जाने के कारण इसकी पूजा की जानी चाहिए।[1] शूद्रों में तब रथकार, सेनानी और दास परिगणित थे। अशुभाचरण करने वालों को तब चाण्डाल पद से कहा जाता था।[2] आचार्य शंकर ने सामाजिक व्यवस्था देते हुए यह कहा है कि शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ चाण्डाल कहा जाता है।[3]

शूद्र के कर्तव्यों में आचार्य मनु ने सभी वर्णों की सेवा करना ही माना है। कहा गया है कि यह उनकी आज्ञा मानकर कार्य करे।[4] आचार्य कौटिल्य ने यह संकेत किया है कि शूद्र द्विजाति की सेवा करने के साथ-साथ शिल्प, गायन, वादन और चारण आदि का कार्य भी करे।[5] श्रीमद् भागवतकार भी इसी दृष्टि को प्रतिपादित करते हैं। और लिखते हैं कि शूद्र द्विजाति की सेवा करे और उनकी वृत्ति का अनुगमन करे।[6]

---

1. स नैव व्यभवत् स शूद्रवर्णमसृज पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किं च। ई० द्वा० उ०, पृ० 281-282
2. प्रा० भा०, पृ० 7।
3. बृह० 4/3/22 पर शांकरभाष्य
4. म० स्मृ०, पृ० 18
5. शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषा वार्ता कारुकुशीलवकर्म च। कौ० अ०, पृ० 13
6. शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत।

आश्रम व्यवस्था

आश्रम शब्द की व्याख्या में कहा गया है कि श्रेय की इच्छा करने वाले व्यक्ति जहाँ पहुँचकर श्रम से मुक्त हो जाते हैं, उसे आश्रम कहते हैं। अथवा जहाँ पहुँचकर व्यक्ति सम्यक् प्रकार से श्रम कर सके, वह आश्रम है। अथवा आश्रम जीवन की वह स्थिति है जहाँ कर्तव्य पालन के लिए पूर्ण रूप से श्रम किया जाए।[1] ये आश्रम हैं- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास।

प्राचीन कालिक वर्ण व्यवस्था में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम की व्यवस्था के संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद में ब्रह्मचर्य अवस्था का संकेत करने वाला शब्द ब्रह्मचारी मिलता है।[1] अथर्ववेद में यह कहा गया है कि आचार्य उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी को अपना अन्तेवासी बनाता था।[2] ब्रह्मचर्य के द्वारा ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी।[3]

उपनिषद् परम्परा भी आश्रम व्यवस्था के इसी रूप को स्वीकार करती है और वह आश्रम व्यवस्था में रहकर जीवन जीने वाले को धर्म स्कन्ध का पालन करने वाली व्यवस्था बताती है। वहाँ यह कहा गया है जो आचार्य कुल में रहकर अपने जीवन को अत्यन्त रूप से क्षीण करता है वह धर्म के तृतीय स्कन्ध का पालन करता है।[4]

---

1. आश्राम्यन्तेषु श्रेयोऽर्थिनः पुरुषा इत्याश्रमाः ।
   आश्राम्यन्त्यत्र अनेन वा ।
   यद्वा आ समन्ताच्छ्रमो व । स्वधर्मसाधनक्लेशात् ।
   वै० सा० सं०, पृ० 175 पर उद्धृत
2. ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमंगलम् ।
   ऋग् 10/109/5
3. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः । अथर्व० 11/5/3
4. छान्दो०, पृ० 215

ब्रह्मचर्याश्रम

यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचर्याश्रम प्रारम्भ होता था। उपनयन शब्द ही इस अर्थ को द्योतित करता है जिसका अभिप्राय होता है, वटु को आचार्य के पास ले जाना। आचार्य मनु ने ब्रह्मचारी के लिए विविध प्रकार के व्रतों का कथन किया है। इन व्रतों में यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी के लिए मधु, मांस, गन्ध, माला, स्त्रिय-सम्पर्क, प्राणियों की हिंसा, छत्र-धारण काम, क्रोध, लोभ की वृत्तियाँ, गीतवादन, द्यूत, अनृतभाषण, ब्रह्मचर्य का स्खलन वर्जित था।[1] इस रूप में ब्रह्मचारी विधि पूर्वक पूर्ण निष्ठा से अपने व्रत का पालन करता था और विधि- व्यवस्थित जीवन व्यतीत करता हुआ आचार्य आश्रम में विद्याध्ययन करता था।

श्री मद्भागवत पुराण में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले के लिए विस्तार से नियमों का कथन किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी गुरुकुल में निवास करता हुआ आचार्य के प्रति इस प्रकार का विनत भाव रखे, जैसे कोई सेवक अपने स्वामी के प्रति रखता है।

---

1. वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
   शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ।।
   अभ्यंगमंजनं चक्षुषोरुपानच्छत्रधारणम् ।
   कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ।।
   द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
   स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ।।
   एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
   कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ।।

   म० स्मृ० , 2/177-180

वह मेखला और अजिन अपने शरीर में धारण करे तथा हाथ में कमण्डलु, दण्ड और कुश रखे। प्रातः और सांयकाल के समय भिक्षाचरण के लिए जाए और जो भिक्षा प्राप्त हो, उसे गुरु को निवेदित करे। रात्रि में अन्यत्र कहीं भी निवास न करे। वह सुशील स्वभाव का हो, अल्पभोजी हो, दक्ष, श्रद्धावान् तथा जितेन्द्रिय हो। कभी भी स्त्री-विषयक वार्तालाप न करे, अगृहस्थ रहकर वह ब्रह्मचारी रहे। कभी भी गुरुकुल में रहकर गुरुकुल की स्त्रियों से केश प्रसाधनादि न कराए।[1]

इसके अतिरिक्त यह कहा गया है कि स्त्री अग्नि है, पुरुष घृत सदृश है। इसलिए ब्रह्मचारी को स्त्री सम्पर्क विशेषत- वर्जित है। जो व्रतधारी हैं वे अंजन, मर्दन, माला, गन्धलेपन, अलंकारादि धारण करने की वृत्ति से दूर ही रहें। इस प्रकार से द्विज नियमाचरण पूर्वक गुरुकुल में रहे और जितनी

---

1. ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम् ।
आचरन् दासवन्नीचो गुरौ सुदृढ़ सौहृदः।।
मेखलाजिनवासांसि जटादण्डकमण्डलून् ।
बिभृयादुपवीतं च दर्भपाणिर्यथोदितम् ।।
सायं प्रातश्चरेद् भैक्ष्यं गुरवे तन्निवेदयेत् ।
भुंजीत यद्यनुज्ञातो नो चेदुपवसेत् क्वचित् ।।
सुशीलो मितभुग् दक्षः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
यावदर्थं व्यवहरेत् स्त्रीषु चस्त्रीनिर्जितेषु च ।।
केशप्रसाधनोन्मर्दस्नपनाभ्यंजनादिकम् ।
गुरुस्त्रीभिर्युवतिभिः कारयेन्नात्मनो युवा।। भा० म० पु०, पृ० 377

शक्ति हो उतनी त्रयी विद्या तथा उपनिषदादि का अध्ययन करे।[1]

एक अन्य स्थान पर भी इसी प्रकार के नियमों का कथन किया गया है और यह कहा गया है कि जन्मोत्तर काल के बाद समय से ब्राह्मण उपनयन संस्कार से संस्कारित होकर अपनी इन्द्रियों का दमन करता हुआ आचार्यकुल में रहकर ब्रह्म विद्या का अध्ययन करे। वह निरन्तर अग्नि कार्य करे, गो, विप्र, गुरु को आदर देकर पवित्रता का जीवन जिए। ईश्वर का जप करता हुआ सन्ध्यादि कार्य विधि पूर्वक सम्पादित करे। आचार्य की शुश्रूषा में इस प्रकार नियत रहे जैसे कोई सेवक अपने स्वामी की सेवा में नियत रहता है। गुरु के आसन के पास, शय्या के पास बद्धांजलि होकर आज्ञा प्राप्ति के लिए सदैव तत्पर रहे।

---

1. नन्वग्निः प्रमदानाम् घृतकुम्भसमः पुमान् ।
सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत् ।।
अंजनाभ्यंजनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं मधु ।
स्रग्गन्धलेपालंकारास्त्यजेयुर्ये धृतव्रताः ।।
उषित्वैवं गुरुकुले द्विजो धीत्यावबुध्य च ।
त्रयीं सांगोपनिषदं यावदर्थं यथाबलम् ।। भा० म० पु० , पृ० 377

2. द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः ।
वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः ।।
अग्न्यर्कार्चार्यगोविप्रगुरु वृद्धसुरांछुचिः ।
समाहित उपासीत सन्ध्ये च यतवाग् जपन् ।।
शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत् ।
यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृतांजलिः ।। वही, पृ० 700

ब्रह्मचर्य आश्रम के सम्बन्ध में अन्यत्र भी इसी प्रकार की विधि व्यवस्था का कथन किया गया है। एक स्थान पर यह कहा गया है कि शिष्य आचार्य के समीप जाकर अध्ययन करे। जितेन्द्रिय, धैर्यवान् और स्वाध्यायशील हो।[1] कूर्म पुराण में कहा गया है कि गर्भ अथवा जन्म से आठवें वर्ष की अवस्था में अपने-अपने गृह्यसूत्र के विधान के अनुरूप यज्ञोपवीत संस्कार से युक्त होकर दण्ड, मेखला, यज्ञोपवीत, मृगचर्म धारण कर, भिक्षान्न प्राप्त कर वेदाध्ययन करे।[2] एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि विद्या की साधना से वह साधु है, उस ब्रह्मचारी को गुरु हितकारक कार्यों में प्रवृत्त होना चाहिए।[3] ब्रह्म वैवर्त पुराण यह संकेत करता है कि ब्रह्मचर्याश्रम में व्यक्ति को गुरु के समीप रहते हुए वेदाध्ययन करना चाहिए तथा विद्या की परिसमाप्ति पर गुरु को दक्षिणा देनी चाहिए।[4] एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी को ब्रह्मांजलि से प्रातःकाल गुरु को नमस्कार करना चाहिए। अध्ययन के आरम्भ और अन्त में प्रणव का उच्चारण करना चाहिए।[5] इस रूप में विधि- विधान का स्वरूप सभी पुराणों में लगभग एक सदृश ही दिखाई देता है।

- -

1. म० पु० ४।४, पृ० 138
2. गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे स्वसूत्रोक्त विधानतः।
   दण्डी च मेखली सूत्री कृष्णाजिनधरो मुनिः ।।
   भिक्षाहारो गुरुहितो वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ।। कू० पु०, पृ० 365
3. वा० पु० , पृ० 93
4. ब्र० वै० ब्र० ख० 24/9
5. ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ पूज्यौ गुरोः सदा।
   संहृत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्मांजलिः स्मृतः।। भ०पु० 1/4/8

गृहस्थाश्रम

एक स्थान पर यह कहा गया है कि गृह, गृह नहीं है अपितु गृहिणी ही गृह है। इससे गृहस्थ का गृही होना द्योतित है और गृह में गृहिणी का महत्त्व विदित है। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि पति और पत्नी मिलकर रहें।[1] वहाँ पर इन्द्र से यह प्रार्थना की गई है कि वे स्त्री को सौभाग्यशाली बनावें।[2] पत्नी से सन्तानोत्पत्ति का भी महत्त्व संकेतित है क्योंकि दस पुत्र प्राप्त करने की आकांक्षा है।[3] इसी क्रम में यह भी कहा है कि मनुष्य जन्म से तीन ऋणों से ग्रस्त होता है। ये ऋण हैं-देवऋण, पितृऋण और ऋषि ऋण। इनमें से व्यक्ति पितृऋण से तभी उऋण हो सकता है जब वह विवाह कर सन्तान की उत्पत्ति करे। पुत्र की परिभाषा भी यही है कि जो पुं नामक नरक से अपने पितरों का उद्धार करता है, वही पुत्र है।[4]

मनुस्मृति में यह कहा गया है कि जब ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न हो जावे तब गुरु की अनुमति प्राप्त करके सभी लक्षणों से युक्त कन्या के साथ विवाह करे।[5] वहाँ पर यह भी कहा गया है कि जैसे सभी नदी-नद सागर की ओर जाते हैं,

---

1. सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः। ऋग् 10/85/23
2. यथेयमिन्द्रमीढ्वःसुपुत्रा सुभगासति । वही, 10/85/25
3. दशास्यां पुत्रानां धेहि पतिमेकादशं कृधि । वही, 10/85/45
4. यच्च पुत्रः पुन्नामनरकमनेक शततारं तस्मात् त्राति पुत्रस्तत् पुत्रस्य पुत्रत्वम् ।
गो० ब्रा० 1/1/2
5. गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृतो यथाविधिः ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।। म० स्मृ० 3/4

उसी तरह से अन्य सभी आश्रम गृहस्थाश्रम के आश्रित होते हैं। इसी प्रकार से जैसे वायु का आश्रय लेकर सभी प्राणी अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय लेकर सभी अन्य आश्रम अपना जीवन व्यतीत करते हैं।[1]

पुराणों में गृहस्थाश्रम का क्रम दूसरा कहा गया है और इसका महत्त्व निरूपित किया गया है। इस आश्रम में प्रवेश करने वाले व्यक्ति को विनम्र, श्रेष्ठ कुलोत्पन्न, पति सेवापरायणा पत्नी के साथ विवाह करना चाहिए।[2] यह आश्रम समस्त आश्रमों में इसलिए प्रधान है कि यह पुण्यवान् आश्रम है। स्त्री, पुत्र और पौत्रयुक्त घर तपस्या के फल के तुल्य है। गृहस्थ के यहाँ पुण्यकाल में पितर तथा अतिथियों का आगमन होता है। वह सर्वदा नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य कर्मों को करता हुआ इस लोक में सुख भोगता है तथा स्वर्ग सुख का अनुभव करता है। अपने धर्म का पालन करता हुआ गृहस्थ, यश कीर्ति, पुण्य, धन और सुख की उपलब्धि करता हुआ जीवन्मुक्त हो जाता है।[2] आचार्य शुक्राचार्य ने गृहस्थ धर्म को उत्कृष्ट माना है। वे "सर्वेषां पालनं गृही" कहकर इसकी उत्कृष्टता व्यञ्जित करते हैं।[4]

---

1. यथा नदीनदः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
   तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ।।
   यथावायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
   तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वाश्रमाः ।।

   म0स्मृ0 6/90, 3/77

2. ब्र0 वै0, ब्र0 ख0 24/9
3. वही 23/8-11
4. शु0 नी0 4/4/2

कूर्म पुराण में यह संकेत किया गया है कि ब्रह्मचारी विधिपूर्वक स्त्री से विवाह कर विविध यज्ञों का अनुष्ठान करते हुए पुत्र उत्पन्न करे। बुद्धिमान् गृहस्थ का यह कर्तव्य है कि वह विधि पूर्वक यज्ञों का अनुष्ठान कर पुत्रों को उत्पन्न करे और बिना संतति उत्पन्न किये संन्यास आश्रम में प्रवेश न करें।[1]

वायु पुराण गृहस्थाश्रम को अधिक महत्त्व देता है और वहाँ पर यह कहा जाता है कि चतुराश्रमों का आश्रम भूत आश्रम गृहस्थ आश्रम है । इसलिए नियम और व्रत पहले इसी आश्रम के कहे जाते हैं। पत्नी का स्वीकरण अग्नि-स्थापन , अतिथि स्वागत, यज्ञ-सम्पादन, श्राद्ध क्रिया करना और सन्तति का पालन करना ये गृहस्थ के धर्म हैं।[2] एक अन्य स्थान पर यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण एक वेद, दो वेद या सभी वेदों का अध्ययन कर गुरु आज्ञा से गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करें।[3]

---

1. दारानाहृत्य विधिवदन्यथा विविधैर्मखैः।
   यजेदुत्पादयेत् पुत्रान् विरक्तो यदि संन्यसेत् ।।
   अनिष्ट्वा विधिवद् यज्ञैरनुत्पाद्य तथात्मजम्।
   न गार्हस्थ्यं गृहीत्यक्त्वा संन्यसेद् बुद्धिमान् द्विजः।। कू0 पु0, पृ0 ?
2. चातुर्वर्णात्मकः पूर्वं गृहस्थश्चाश्रमः स्मृतः ।
   त्रयाणामाश्रमाणां च प्रतिष्ठायोनिरेव च ।।
   x x x x
   दाराऽग्नयोऽथातिथ्य इज्याश्राद्धक्रियाः प्रजाः।
   इत्येष वै गृहस्थस्य समासाद्धर्म संग्रहः।। वा0 पु0, पृ0 15
3. वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि नृपोत्तम् ।
   अविलुप्तब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् । भ0पु0 1/5/2, या0स्मृ0 1/52

पुराणों में गृहस्थ के लिए यह कहा गया है कि गृहस्थ गृहोचित कार्यों में संलग्न रहे। अपने सभी कार्यों को वासुदेव को अर्पण करने का स्वभाव रखे। भगवान् के विविध अवतारों की कथा निरन्तर श्रवण करता रहे। सत्संग से वह इस प्रकार की वृत्ति प्राप्त करे कि जाया, पुत्र-पुत्री आदि के संसार मोह से विरक्त हो सके। गृहस्थ के लिए उतना ही अर्जित करने का विधान है, जिससे उसका और उसके परिवार का भरण-पोषण हो सके। इससे अधिक जो प्राप्त करता है, वह "स्तेन " है और दण्ड-प्राप्ति का अधिकारी है । धर्म ,अर्थ,काम इन त्रिवर्गों का सम्पादन और उपभोग वह अपने जीवन में करे और यथा समय यथारूप में दैव ने जो दिया है उससे सन्तुष्ट रहे। जो गृहस्थ यज्ञावशिष्ट अन्न प्राप्त करता है अपने जीवन का भरणपोषण करता है, वह प्राज्ञ है और मनुष्य रूप में महत् पदवी प्राप्त करता है। गृहस्थ का यह कर्तव्य है कि वह देवताओं, ऋषियों ,अतिथियों की यथाशक्य अर्चना करे।[1]

---

1. गृहेष्ववस्थितो राजन् क्रियाः कुर्वन् गृहोचिताः।
   वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन् ।।
   श्रृण्वन् भगवतोऽभीक्ष्णमवतार कथामृतम् ।
   श्रद्दधानो यथाकालमुपशान्तजनावृतः।।

   x x x x

   यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
   अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।।

   x x x x

   त्रिवर्गं नाति कृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि।
   यथादेशं यथाकालं यावद्दैवोपपादितम् ।।

   x x x x

   सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद् वृत्तिमात्मनः ।
   शेषे स्वत्वं त्यजन् प्राज्ञः पदवीं महतामियात् ।।

   भा०म०पु० ,पृ० 380

वानप्रस्थाश्रम

इस आश्रम के सन्दर्भ में स्मृतिकार कहते हैं कि जो कठोर नियमों का पालन करते हुए वन में निवास करते हैं, वे वानप्रस्थी हैं।[1] जब गृहस्थाश्रम में रहते हुए बाल पक जावे, त्वचा ढीली पड़ जावे, तब विषय-रोग से रहित होकर स्त्री को पुत्रों के संरक्षण में देकर अथवा उसे भी साथ लेकर वन का आश्रम ग्रहण करे। वहाँ पर जाकर नियमित रूप से वानप्रस्थी अग्नि होत्र करे, शीत, उष्णादि द्वन्दों से उपराम रहे तथा वसन्त, शरद् ऋतुओं में भी यज्ञकर्म सम्पादित करता रहे। वानप्रस्थाश्रम निवासी के लिए यह विधान है कि वह वन में जो भी फल-मूलादि उपलब्ध होवें, उनके माध्यम से ही अपना जीवन चलावे। किसी प्रकार का पका हुआ अन्न ग्रहण न करे। ग्रीष्मऋतु में अग्नि तपे और हेमन्त में जल में खड़े होकर तप करे। स्वाध्याय में रत रहे, मित्रता की भावना रखे, दान देने में प्रवृत्त हो और सभी प्राणियों के प्रति कृपाभाव वाला बने।[2]

- -

1. वने पर्कोर्षेण नियमेन च तिष्ठतीति चरतीति वानप्रस्थः ।

याo स्मृo 3/45 मिताक्षरा

2. गृहस्थस्तु यदा पश्येद् बलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ।
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्नि परिच्छदम् ।।
स्वाध्याये नित्य युक्तःस्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ।।
ग्रीष्मे पंचतपास्तु स्याद् वर्षास्वभ्रावकाशिकः ।
आर्द्रवासास्तु हेतन्ते क्रमशो वर्धयन्तपः ।।

मo स्मृo, पृo 222-226

इतिहासविद् यह कहते हैं कि अति प्राचीन समय में वानप्रस्थ के लिए सम्भवतः वैखानस शब्द प्रचलित था।[1] वेद में मन्त्र द्रष्टा ऋषियों के लिए वैखानस शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] मुण्डकोपनिषद् में अरण्यवासियों के लिए तपस्वी शब्द का प्रयोग है।[3]

पुराणों में विस्तारपूर्वक आश्रम धर्मों का वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो वानप्रस्थाश्रम का वर्णन भी वहाँ पर विस्तार-पूर्वक है। कूर्म पुराण में कहा गया है कि व्यक्ति अपनी आयु के तृतीय भाग में भार्या सहित वन में प्रवेश करे। अथवा जब अपने पुत्र के पुत्र को देख ले और शरीर जर्जर हो जाए तब पत्नी को पुत्रों के संरक्षण में देकर वानप्रस्थ हो जाए। वहाँ पर संयत आहार वाला होकर रहे, नियमित अग्नि होत्र करे, पवित्र मुनि अन्नों से यज्ञ करे और उसी का अवशिष्ट स्वयम् ग्रहण करे। वन में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करे, असत्य भाषण न करे, निद्रा और आलस्य का परित्याग करे, पूर्व संचित पदार्थों का त्याग कर दे, तीनों समय की सन्ध्या करे, कृष्ण मृग चर्म, उत्तरीय, शुक्ल यज्ञोपवीत धारण करे, अग्नियों की प्रतिष्ठा करे, जीवन निर्वाह के लिए तपस्वी ब्राह्मणों से ही भिक्षा मांगे।[4]

---

1. ध० इ० (1), पृ० 482
2. ऋग् 9/66
3. तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
   सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।।
   मु० उ० 1/2/11
4. कू० पु०, पृ० 343-345

अन्य स्थानों पर भी वानप्रस्थाश्रम का संकेत देखने को मिलता है। जैसे कहा गया है कि वन में जाकर निवास करने के कारण इस आश्रम का नाम वानप्रस्थाश्रम है।[1] इस आश्रम को वैखानस भी कहते हैं यद्यपि कालिदास ने वैखानस शब्द का प्रयोग ब्रह्मचारी के अर्थ में किया है।[2]

भविष्य पुराण में गुणशेखर के पुत्र धर्मराज और धर्मवल्लभ के संवादों में वानप्रस्थ धर्म का वर्णन किया गया है।[2] इसके अनुसार वहाँ पर धर्मानन्द और और कर्मानन्द का उल्लेख है। और साथ में यह भी कहा गया है कि कलियुग में वानप्रस्थाश्रम का कोई योगदान नहीं है।[3]

श्री मद्भागवत पुराण में विस्तार से वानप्रस्थाश्रम का कथन किया गया है और वहाँ पर उनके आचरणों का निर्देश भी कियागया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि वन में रहने की इच्छा रखने वाले को चाहिए कि वह पत्नी को पुत्रों के संरक्षण में छोड़कर आयु के तृतीय भाग में वन में निवास करे। वह कन्द, मूल, फल तथा वनों में प्राप्त होने वाले खाद्यान्नों पर निर्भर रहे। वल्कल वस्त्र धारण करे, तृण, पर्ण और अजिन धारण कर जीवन व्यतीत करे।[4]

- -

1. भ० पु० अनु० , पृ० 305

2. अ० शा०, पृ० 33

वानप्रस्थे महाराज स धर्मानन्दकोऽधमः ।
कर्मकाण्डेन यानन्दः सत्यधर्मः स वै स्मृतः।।

भ० पु० 3/2/1। का० पु०, पृ० 14-15

वानप्रस्थः कलौ नास्ति। भ० पु० 3/3/7

4. वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा ।
वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः ।।
कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत् ।

वानप्रस्थाश्रमवासी ग्रीष्म काल में अग्नि में तपे, वर्षा ऋतु में जल का सेवन करे। शिशिर में कण्ठ तक जल में खड़े होकर तपस्या करे। वह अग्नि में पकाया हुआ अन्न का भोजन करे अथवा समय से जो पका हुआ अन्न अथवा फल हो, उसका भोजन करे। अपने लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता हो, उन वस्तुओं का चयन स्वयम् करे। देश, काल और बल के अनुरूप अन्य के द्वारा प्राप्त सामग्री का चयन न करे।[1]

एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि वानप्रस्थ आश्रम में निवास करने वाले का यह धर्म है कि वह कृषि कर्म से उत्पन्न अन्न का प्रयोग करे और समय-समय पर प्रकृति प्रदत्त सामग्री का भोजन करे। वन में प्राप्त होने वाले फलमूलादि से पुरोडाश का निमार्ण करे और नया अन्न आने के पश्चात् जो पुराना अन्न संचित है, उसका परित्याग करे।[2] इस प्रकार से वानप्रस्थाश्रमी अपने आश्रम का नियमपूर्वक पालन करता हुआ यह आश्रम पूर्ण करे।

- -

1. ग्रीष्मे तप्येत् पंचाग्नीन् वर्षास्वासारषाड्जले ।
आकण्ठमग्न: शिशिरे एवं वृत्तास्तपश्चरेत् ।।
अग्निपक्वं समश्नीयात् कालपक्वमथापि वा ।
उलूखलाश्मकुट्टी वा दन्तोलूखल एव वा।।
स्वयं संचिनुयात् सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम् ।
देशकालबलाभिज्ञो नाददीतान्यदाहृतम् ।। भा० म० पु०, पृ० 70।

2. न कृष्टपच्यमश्नीयादकृष्टं चाप्यकालत: ।
अग्निपक्वमथामं वा अर्कपक्वमुताहरेत् ।।
x x x x
लब्धे नवे नवेऽन्नाद्ये पुराणं तु परित्यजेत् ।। भा० म० पु० पृ० 378

संन्यासाश्रम

वैदिक संहिताओं में संन्यासाश्रम का बहुत स्पष्ट संकेत तो नहीं मिलता, किन्तु मुनि शब्द का उल्लेख अवश्य कई स्थानों पर किया गया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि पीले वस्त्र धारण करने वाले और वात भक्षण वाले होते थे। वे शरीर से तो मरणधर्मा थे किन्तु उनकी स्थिति वायु से भी अमर थी।[1] उपनिषद् संन्यास आश्रम के नियम में भलीभाँति विचार करते हैं और यह मत व्यक्त करते हैं कि संन्यास योग से मुक्त अमृत पद को प्राप्त कर लेते हैं।[2] इसी प्रकार से एक अन्य सन्दर्भ में यह कहा गया है कि धर्म के तीन स्कन्धों में से तप, व्रतादि का पालन कर परिव्राजक अमृतत्व को प्राप्त करता है।[3] बृहदारण्यकोपनिषद् में कुषीतक के पुत्र कहोल के प्रश्नों का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा था कि जो पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से दूर हटकर भिक्षाचरण करते हैं वे आत्मज्ञान का सम्पादन कर लेते हैं।[4] श्वेताश्वतरोपनिषद् में अत्याश्रमिभ्यः शब्द का अर्थ करते हुए अनेक विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि इसका अभिप्राय भी चतुर्थाश्रम ही होता है।[5] इस रूप में यह कहना संगत है कि प्राचीन समय में संन्यासाश्रम की परम्परा एक पुष्ट परम्परा थी।

---

1. ऋग् 10/136/2-3
2. वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संयासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः।
   ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।
   मु० उ० 3/2//6
3. ई० द्वा०उ०, पृ० 147
4. वही, पृ० 327
5. श्वे०उ०शां० भा०, 216

महर्षि मनु इस सन्दर्भ में यह कहते हैं कि व्यक्ति आयु के चौथे भाग में संसार के सभी सम्बन्धों को त्याग परिव्राजक हो जावे। तब वह प्रजापति अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति के लिए यज्ञ करके यज्ञोपवीत, शिखादि चिन्हों को छोड़ करके आहवनीय पाँच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान में आरोपण कर संन्यासी हो जावे।[1] जो परिव्राजक इस प्रकार रहे, वह पृथिवी पर देखकर चले, वस्त्र से छानकर जल पिए, सदा-सर्वदा सत्य वचन बोले। वह सभी प्राणियों के प्रति निर्वैर हो, इन्द्रिय-विषयों का त्याग करे, वेदोक्त कर्म करे तथा अति उग्र तप द्वारा मोक्ष पद को प्राप्त करे।[2] तपश्चरण ही संन्यासी का मुख्य धर्म है और इसके द्वारा वह केवल मुक्ति की ही कामना करता है। इस प्रकार से जो संसार में सभी कुछ त्याग कर सभी द्वन्द्वों से विमुक्त हो जाते हैं, वे ब्रह्म की प्राप्ति कर लेते हैं।[3]

- -

1. चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत् ।
   x x x x
   प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणम् ।
   आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ।। म0 स्मृ06/33; 6/38
   x x x x
2. दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
   सत्यपूतां वदेत् वाचं मनः पूतं समाचरेत् ।।
   x x x x
   अहिंसेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
   तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ।। म0 स्मृ0 6/46; 6/75
3. म0 स्मृ0 6/81।

संन्यास शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए एक विद्वान् कहते हैं कि समन्तात् न्यास अथवा "सम्यक् प्रकारेण न्यास:" इस व्युत्पत्ति से इस आश्रम का साधक समस्त बन्धनों से निर्मुक्त होकर, सर्वतन्त्र, स्वतन्त्र तथा स्वच्छन्द रूप से विचरण करता है।[1] इस दृष्टि से ब्रह्म वैवर्त में कहा गया है कि संन्यासी एक स्थान पर रुके नहीं, वह सभी वस्तुओं को समान मानने वाला हो, दण्ड-कमण्डलु को धारण करने वाला हो। हिंसा, माया, क्रोध और अंहकार से रहित हो। उसे अयाचित रूप से जो मिल जावे, वही खा लेवे। स्त्री-संग से दूर रहे।[2]

कूर्म पुराण में संन्यासी के तीन भेदों का संकेत किया गया है। वहाँ पर कहा गया है कि जो सभी आसक्तियों से मुक्त है, सुख- दु:खादि द्वन्द्वों से रहित है, निर्भय है वह ज्ञान संन्यासी है। जो नित्य वेद का अभ्यास करता है, आशा रहित, संग्रह शून्य है, जितेन्द्रिय तथा मोक्ष की इच्छा रखने वाला है, वह वेद संन्यासी है। जो अग्नियों को आत्मसात कर ब्रह्मार्पण तत्पर रहता है, उस महायज्ञ परायण द्विज को कर्म संन्यासी जानना चाहिए।[3]

---

1. ब्र० वै० सं० अ० , पृ० 179
2. ब्र० वै० पु० सं० 36/120-127
3. य:सर्वसङ्गनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वश्चैव निर्भय: ।
   प्रोच्यते ज्ञानसंन्यासी स्वात्मन्येव व्यवस्थित: ।।
   वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं निराशी निष्परिग्रह:।
   प्रोच्यते वेदसंन्यासी :मुमुक्षुर्विजितेन्द्रिय: ।।
   यस्त्वग्नीनात्मसात्कृत्वा ब्रह्मार्पण परो द्विज:।
   ज्ञेय:स कर्म संन्यासी महायज्ञपरायण:।। कू०पु० , पृ० 346

श्रीमद् भागवत महापुराण में संन्यासाश्रम का विस्तार से वर्णन किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि भिक्षु अकेला ही विचरण करे, सभी प्राणियों के प्रति मित्रभावी और नारायण के प्रति समर्पित हो। आत्मा से अन्य अनित्य विश्व को देखे और सद्-असद् विवेकी हो। आत्मा और ब्रह्म से इतर जग में कुछ भी न जाने।[1]

एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि मुनि केवल कौपीन मात्र धारण करे, दण्ड और पात्र के अतिरिक्त इसके पास और कुछ भी न हो। भूमि में अकेला विचरण करे, संयतेन्द्रिय हो, आत्मलीन और आत्मवान् होवे।[2]

- -

1. एक एव चरेद्भिक्षुरात्मारामोऽनयाश्रय: ।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायण: ।।
पश्येदात्मन्यदो विश्वं परे सद्सतोऽव्यये।
आत्मानं च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसान्मये ।।

भा०म०पु० ,पृ०378

2. बिभृयाच्चेन्मुनिर्वास: कौपीनाच्छादनं परम् ।
त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यां अन्यत् किञ्चिदनापदि।।
एकश्चरेन्महीमेतां नि:संग: संयतेन्द्रिय: ।।
आत्मक्रीड आत्मरत् आत्मवान् समदर्शन: ।।

भा०म०पु०,पृ०702

चतुर्थ अध्याय

(श्री मद् भागवत पुराण में वर्णित पारिवारिक मूल्य)

चतुर्थ अध्याय

॥ श्रीमद् भागवत में वर्णित पारिवारिक मूल्य ॥

1· परिवार व्यवस्था :-

संयुक्त परिवार, वैयक्तिक परिवार

2· वर्गीय परिवार :-

पुरुष, पिता, पति, पुत्र, नारी, माता, पत्नी, प्रेयसी, दासी

3· सूर्यवंश का विशिष्ट वर्णन

4· चन्द्रवंश

चतुर्थ अध्याय

॥श्रीमद् भागवत् में वर्णित पारिवारिक मूल्य ॥

॥क॥ परिवार व्यवस्था :-

काव्य जहाँ व्यक्ति के लिए आनन्द का सृजन करता है, वहीं वह अपने समय की सामाजिक व्यवस्था का भी स्वरूप प्रतिपादित करता है। उसके द्वारा किया गया यह प्रतिपादन कभी प्रत्यक्ष होता है और कभी अप्रत्यक्ष होता है । श्रीमद् भागवत् यद्यपि एक ऐसा काव्य है जिसके माध्यम से व्यक्ति भक्ति,कर्म और ज्ञान की त्रिपथगा में अवगाहन कर आनन्द उठाता है तथापि इसमें तत्कालीन सामजिक व्यवस्था का स्वरूप भी देखा जा सकता है । इस समाज वर्णन के स्वरूप में उस समय की परिवार व्यवस्था का स्वरूप भी देखा जा सकता है । इस स्वरूप में तब संयुक्त परिवार और वैयक्तिक परिवार दोनों का स्वरूप समाज में वर्तमान था ।

संयुक्त परिवार :-

श्रीमद् भागवत् में अधिकतम रूप में राजाओं और राजवंशों के परिवारों का वर्णन है । क्योंकि राजा स्वाभाविक रूप से अपने परिवार में अधिक सदस्यों का समाहन करते थे, इसलिए उनके परिवार संयुक्त ही होते थे । दूसरी बात यह थी कि राजाओं के एक से अधिक विवाह होते थे और उनकी सन्तानें भी एकाधिक होती थीं जिससे उनके परिवार अपेक्षाकृत बड़े और संयुक्त हो जाते थे । जैसे एक स्थान पर शतरूप के दो पुत्र कहे गए हैं । वे हैं प्रियव्रत और उत्तानपाद।इनमें से उत्तानपाद के दो रानियाँ थीं । एक रानी का नाम सुनीति था और दूसरी का नाम था सुरुचि । राजा का प्रेम सुरुचि पर अधिक था । उसको भी एक पुत्र था । राजा की दूसरी पत्नी का नाम सुनीति था और उसका पुत्र ध्रुव था,जो बाद में तपस्या करके बहुत प्रतिष्ठित हुआ [1] ।

एक अन्य आख्यान राजा पाञ्चालपति पुरञ्जन का भी प्राप्त होता है जिसमें यह वर्णन आया है कि पुरञ्जनी ने अपने रूप-सौन्दर्य से पुरञ्जन को वश में कर लिया था, और तब वे बहुत समय तक कामासक्त हो, विहार करते रहे थे। इस रूप में उनको हजारों की संख्या में पुत्र और पुत्री हुए। बाद में राजा ने उन सबका भी विवाह किया तब यह एक ऐसा परिवार बना जो अद्-भुत रूप से विशाल आकार वाला था, और साथ ही संयुक्त भी था[1]।

भगवान् श्रीकृष्ण के संयुक्त परिवार का तो कहना ही क्या है। उनके परिवार में जहाँ माता-पिता, भाई और सेवक हैं वहीं उनकी इतनी पत्नियाँ हैं जो एक साथ रहकर और समान रूप से श्रीकृष्ण पति को स्नेह कर एक विलक्षण संयुक्त परिवार को स्वरूप देती हैं। द्रोपदी उन सबको पृथक्-पृथक सम्बोधित कर पूछती है कि तुम सबने श्रीकृष्ण को जिस प्रकार प्राप्त किया है और इनके साथ जिसप्रकार से तुम्हार विवाह हुआ है, उसे कहो। मैं सुनना चाहती हूँ।

---

1. तयैवं रममाणास्य कामकश्मलचेतस: ।
   क्षणार्धमिव राजेन्द्र व्यतिक्रान्तं नवं वय: ।।
   तस्यामजनयत् पुत्रान् पुरञ्जन्यां पुरञ्जन: ।
   शतान्येकादश विराडायुषो ऽर्धमथात्यगात् ।।
   दुहितृदशोत्तरशतं पितृमातृयशस्करी ।
   शीलौदार्यगुणोपेता: पौरञ्जन्य: प्रजापते ।।

   x x x

   पुत्राणां चाभवन् पुत्रा एकैकस्य शतं शतम् ।
   यैर्वै पौरञ्जनो वंश: पञ्चालेषु समेधित: ।।

भा० म०पु०, पृ० 242

इस पर रुक्मणी सत्यभामा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, सत्योवाया आदि ने श्रीकृष्ण के विवाह का प्रकरण सुनाया । एक एक विशाल परिवार बना [1] ।

पाण्डव और कौरव वंश के संयुक्त परिवार का सन्दर्भ भी श्रीमद् भागवत पुराण में संकेत रूप में दिया गया है । भगवान् श्री कृष्ण ने ऋषियों/महर्षियों से युक्त सभा में उन्हें अप्रतिरथी और वीर कहा था । राजा युधिष्ठिर इतने धर्मवान् थे कि उनकी उपाधि ही धर्मराज थी । वृकोदर जहाँ शरीर से स्वस्थ और बली थे, वहीं वे गदा संचालन में अप्रतिम थे । अर्जुन के गाण्डीव की तो महिमा ही अप्रतिम थी । इस रूप में यह परिवार सदा संयुक्त रहा और आदर्श रूप में सदा ही सुख-दुःख का भागीदार रहा[2] । यह परिवार श्रेष्ठतम आचरण का संयुक्त परिवार कहा जा सकता है ।

1· हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौसले ।
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ।।
हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूत वोभगवान् स्वयम् ।
उपमेये यथा लोकमनुकुर्वन् स्वमायया ।। भा0म0पु0, पृ0 644

2· पाण्डुपुत्रानुपासीनान् प्रश्रयप्रेमसङ्गतान् ।
अभ्याचष्टानुरागास्रैरन्धीभूतेन चक्षुषा ।।

x x x

संस्थितेऽतिरथे पाण्डौ पृथा बालप्रजा वधूः ।
युष्मत्कृते बहून् क्लेशान् प्राप्ता तोकवती मुहुः ।।

x x x

यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः ।
कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत्कृष्णस्ततो विपद् ।।

वही, पृ0 64

वैयक्तिक परिवार :-

वैयक्तिक परिवार का रूप भी यत्र-तत्र श्रीमद्भागवत् पुराण में दिखाई देते हैं। ऐसे परिवारों में पति-पत्नी और एक-दो सन्तानों का ही उल्लेख मिलता है। जैसे तुङ्गभद्रा नदी के किनारे पर रहने वाले एक ब्राह्मण आत्मदेव का उल्लेख आता है। वे सभी विद्याओं और वेदों के पारङ्गत थे। आचरण-शुद्धता के कारण इतने अधिक तेजस्वी थे कि ऐसा प्रतीत होता था कि वे द्वितीय सूर्य थे। उनकी पत्नी का नाम धुन्धुली था। वह सुन्दरी थी तथा श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुई थी। यद्यपि वह अपने वंश के अनुरूप सुशील नहीं थी। बहुत बोलने वाली और कलह प्रिय थी। दम्पति के बहुत समय तक प्रेम पूर्वक निवास करने पर भी उनके कोई सन्तान नहीं थी। सन्तान प्राप्ति के लिए उन्होने दान-दक्षिणादि दिए थे किन्तु फिर भी वे सन्तान रहित थे। इसलिए अर्थ और काम का भोग करते हुए भी वे सन्तान के अभाव से दुखी थे[1]।

1· तुङ्गभद्रातटे पूर्वमभूत पत्तनमुत्तमम् ।
यत्र वर्णाः स्वधर्मेण सत्यसत्कर्मतत्पराः ।।
आत्मदेवः पुरे तस्मिन् सर्ववेदविशारदः ।
श्रौतस्मार्तेषु निष्णातो द्वितीय इव भास्करः ।।
भिक्षुको वित्तवांल्लोके तत्प्रिया धुन्धुली स्मृतः ।
स्ववाक्यस्थापिका नित्यं सुन्दरी सुकुलोद् भवा ।।
लोकवार्तारता क्रूरा प्रत्यक्षो बहुजल्पका ।
भूरा च गृहकृत्येषु कृपणा कलहप्रिया ।।

x x x

धनार्थं धर्ममार्गेण ताभ्यां नीतं तथापि च ।
न पुत्रो नापि वा पुत्री ततश्चिन्तातुरो भृशम् ।।

भा० मा० पु०, पृ० 36

परिवार का आधार सन्तति होती है । बिना सन्तति के न परिवार बनता है और न ही बिना परिवार के गृहस्थ जीवन की पूर्णता होती है । पुत्रादि सेहीन होने पर यदि संन्यास भी धारण किया जाए तो वह भी सुख नहीं देगा और शुष्क-वत् प्रतीत होगा । पुत्र-पौत्र से समन्वित गृहस्थ लोक सरस होता है । इस रूप में जब ब्राहमण ने एक विरक्त के समक्ष कहा कि मुझे पुत्र अवश्य चाहिए । विरक्त महात्मा ने बहुत अधिक आग्रह करने पर एक पुत्र होने के लिए फल दिया और ब्राह-मण को पुत्र प्राप्त हुआ । इस रूप में वह परिवार एक वैयक्तिक परिवार के रूप में प्रतिष्ठित हुआ[1] ।

एक संकेत इस प्रकार का भी मिलता है जिसमें यह उल्लेख है कि तपस्वी ऋषि अपने पुत्र के साथ वन में निवास करते हैं और परिवार के अल्पतम सदस्यों के रूप में दिखाई देते हैं । महर्षि आङ्गिरस वन में तपस्यारत हैं और उनका पुत्र उनके साथ रहता है । दुर्योग से एक बार परीक्षित वहाँ जाते हैं और अपने अपमान से खिन्न होकर ऋषि का अपमान कर देते हैं । तब,ऋषिपुत्र राजा को शाप दे देते हैं[2] ।

1· विवेकेन भवेत् किं मे पुत्रं बलादपि ।
नो चेन्त्यजाम्यहं प्राणास्त्वदग्रे शोकमूर्च्छित: ।।
पुत्रादिसुखहीनोऽयं संन्यास: शुष्क एव हि ।
गृहस्थ: सरसो लोके पुत्रपौत्रसमन्वित: ।।

भा० मा० पु०, पृ० 37

2· तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी विहरन् बालकोऽर्भकै: ।
राजाघं प्रापितं तातं श्रुत्वा तत्रेदमब्रवीत् ।।

× × ×

स वा आङ्गिरसो ब्रह्मन् श्रुत्वा सुतविलापन् ।
उन्मील्य शनकैर्नेत्रे दृष्ट्वा स्वांसे मृतोरगम् ।।

वही, पृ० 84-85

इसी प्रकार एक ब्राह्मण के परिवार का परिचय और मिलता है। वह कान्यकुब्ज क्षेत्र में रहता था और वह एक दासी का पति था। उसका नाम अजामिल था। यद्यपि उसके अनेक पुत्रों का संकेत है किन्तु वह सबसे छोटे पुत्र नारायण से बहुत अधिक स्नेह करता था। वह वृद्ध होता हुआ भी अपने इस बच्चे की बाल लीला देखकर आह्लादित हुआ करता था और पर जीवन के प्रति वह सचेष्ट नहीं था। वह बालक के भोजन करने पर भोजन करता था, उसके पीने पर जल पीता था किन्तु अवस्था के अन्तिम समय में भी परलोक के प्रति चिन्तित नहीं था[1]। इस परिवार को भी एक प्रकार से वैयक्तिक परिवार इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि इसका मालिक एक वृद्ध है और वह अपने सभी पुत्रों के साथ रह रहा है। उसकी दासी पत्नी भी उसके साथ है। वह इतना अधिक मोहग्रस्त है कि अपने सबसे छोटे बच्चे के प्रति अत्यधिक अनुरक्त है और उसी को सबसे अधिक प्रेम करता है। यद्यपि बाद में उसी बच्चे के स्नेह से उसे विष्णुलोक मिलता है[2]।

---

1. कान्यकुब्जे द्विज: कश्चिद् दासीपतिरजामिल: ।
नाम्ना नष्टसदाचारो दास्या: संसर्गदूषित: ।।

x x x

तस्य प्रवयस: पुत्र दश तेषां तु योऽवम: ।
बालो नारायणो नाम्ना पित्रोश्च दयितो भृशम् ।।
स बद्ध हृदयस्तस्मिन्नर्भके कलभाषिणि ।
निरीक्षमाणस्तल्लीलां मुमुदे जरठो भृशम् ।।
भुञ्जान: प्रपिबन् स्वादन् बालकस्नेहयन्त्रित: ।
भोजयन् पाययन्मूढो न वेदागतमन्तकम् ।।

भा० म०पु०, पृ० 308

एक अति छोटा वैयक्ति परिवार भगवान् श्री कृष्ण के सखा सुदामा का भी था । सुदामा ब्रह्मवादी, विरक्त, इन्द्रियजयी, सन्तोषी, गृहस्थाश्रम में निवास कर रहे थे । उनकी पत्नि अत्यधिक दरिद्रता का अनुभव करती हुई रह रही थी । वह पतिव्रता थी । एक दिन अपनी दीनता से ग्लान होकर उसने अपने पति से कहा कि आपके सखा तो साक्षात् लक्ष्मीपति हैं । वे शरण्य हैं और ब्राह्मण को अवश्य शरण देने वाले हैं । इस समय हमारा परिवार दरिद्रता की चरमसीमा भोग रहा है और हम दुखित हैं । हमारे ऐसे परिवार को देखकर वे अवश्य ही द्रवित होंगें । वे इस समय द्वारिका में द्वारिकाधीश होकर रह रहे हैं । उनके पदकमल स्मरण करने से कामना की पूर्ति होती है अपनी भार्या के इस प्रकार के वचन सुनकर वे भगवान् के दर्शन को परम लाभ मानकर द्वारिका जाने के लिए उद्यत हो गए। तब उनकी पत्नी ने कहीं से चावल माँगकर उपहार स्वरूप दिए, जिन्हें खाकरभग-वान् ने उन्हें कृतकार्य किया [1] ।

---

[1] कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तम: ।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रिय: ।।
यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानों गृहाश्रमी ।
तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा ।।

× × × ×

ननु ब्रह्मन् भगवत: सखा साक्षाच्छ्रिय: पति: ।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान् सात्वतर्षभ ।।

× × × ×

स एवं भार्यया विप्रो बहुश: प्रार्थितो मुहु: ।
अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम् ।।

× × × ×

विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धी सर्वसम्पदाम् ।। भा०म० पु०, पृ०638-641

§2§ वर्गीय व्यवस्था :-

मनुष्य का सामाजिक संगठन सम्भवतः सृष्टि के आदि से ही किसी न किसी रूप में रहा होगा। स्त्री और पुरुष रूप में यह सृष्टि ही समाज का स्वरूप बनाती है। इस रूप में प्राचीन समय से ही पुरुष की महत्ता थी क्यों- कि वह परिवार का भी मुखिया होता था और बाहर निकल कर सभी कार्य सम्पा- दन करने में भी आगे था।

पुरुष :-

पुरुष का प्राधान्य सर्व स्वीकृत है। पुरुषार्थ संपादन और पौरुष प्रदर्शन से पुरुष महत्वपूर्ण है। श्रीमद् भागवत् में राजाओं के रूप में तथा अन्य रूप में पुरुष सदाचारी, नैतिक, साहसी, तपस्वी, दानी और आलोभी दिखाई देते हैं। यद्यपि कुछ पुरुषों के रूप में दम्भी, कामी, लोभी और स्वेच्छाचारी पुरुष भी दिखाई देते हैं। इन रूपों में एक विशिष्टता अवश्य है कि जो नैतिक, सदाचारी, निर्लोभी, तपस्वी और दानी थे, उन्हें देवकोटि में गिना जाता था और इसके विपरीत जो कामुक, अंहकारी और दुराचारी थे, उन्हें राक्षस कोटि में गिना जाता था। यद्यपि कभी-कभी हीन कोटि के पुरुष भी नैतिकता के ऐसे मानदण्ड प्रस्तुत करते थे जो अद्भुत थे।

एक सन्दर्भ कश्यप महर्षि का है जिन्होंने दैवयोग से स्त्री के वशीभूत होकर, यह जानते हुए भी कि यह वरदान बहुत घातक है, केवल इसलिए वह वरदान किया कि वे अपने सत्य वचन से विचलित नहीं होना चाहते थे। जब उनकी पत्नी दिति ने इन्द्र का वध करने वाले पुत्र की याचना की तो वे वचन देने की अपनी दृढ़ता पर भी बहुत अधिक संतप्त हुए किन्तु सत्य का पालन करने की अपनी इच्छा के कारण उन्होंने दिति को इन्द्र का वध कर सकने योग्य पुत्र होने का वरदान दिया

और इस प्रकार पुरूष रूप में अपने वचन का पालन किया[1] ।

पुरूष द्वारा सत्य के पालन का एक सन्दर्भ बलि और वामन सम्वाद में भी दिखाई देता है जहाँ बलि वामन को तीन पग भूमि देने को उद्यत है । वामन के यथार्थ रूप और प्रभाव को जानकर जब आचार्य शुक्र उसे रोकते हैं तो वह सत्य के समर्थन में यही कहता है कि असत्य से बढ़कर कोई अधर्म नहीं है । यद्यपि मैं यह जान रहा हूँ कि मेरे साथ छल हो रहा है किन्तु ऐसा होने पर भी मैं किसी भी रूप में अपने द्वारा दिए गए सत्य रूपी वचनों के पालन करने से विचलित न हो सकूँगा । इस प्रकार उसने वामन के द्वारा चाही गई भूमि दे दी [2] ।

1· वरदो यदि मे ब्रह्मन् पुत्रमिन्द्रहणं वृणे ।
अमृत्युं मृतपुत्राहं येन मे घातितौ सुतौ ।।
निशम्य तद्वचो विप्रो विमना: पर्यतप्यत ।
अहो अधर्म: सुमहानद्य मे समुपस्थित: ।।

x x x x

प्रतिश्रुतं ददामीति वचस्तन्न मृषा भवेत् ।
वधं नार्हति चेन्द्रोऽपि तत्रेदमुपकल्पते ।।

x x x x

पुत्रस्ते भविता इन्द्रे इन्द्रहा देवबान्धव: ।
संवत्सरं व्रतमिदं यद्यञ्जो धारयिष्यसि ।। भा०म०पु०, पृ० 345

2· न ह्यसत्यात् परो धर्म इति होवाच भूरियम् ।
सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नरम् ।।

x x x x

एवं शप्त: स्वगुरुणा सत्यान्न चलितो महान्
वामनाय ददावेनामर्चित्वोदकपूर्वकम् ।। वही, पृ० 423-424

पिता :-

पुरुष का पितृ रूप भी श्रीमद् भागवत में अनेक रूपों में देखने को मिलता है । इसमें एक पिता इस रूप में हैं जो अपने पुत्र की रक्षा के लिए बहुत चिन्तित हैं और श्रीकृष्ण को बचाने के लिए कंस के कारागार से संकटापन्न स्थिति में उन्हें ले जाते हैं । कंस के कारागार में भगवान् अवतार लेकर वसुदेव और देवकी से कहते हैं कि तुम दोनों ही मुझे पुत्र मानकर ब्रह्मभाव से जानो । इस प्रकार से मेरा चिन्तन करते हुए और मुझ पर स्नेह करते हुए मेरी गति को ही प्राप्त हो सकोगे[1] ।

बाद में बाल भाव में आकर भगवान् ने कहा कि तुम मुझे लेकर नन्द के घर में पहुँचा दो । जब वसुदेव श्री कृष्ण रूप बालक को लेकर चले तब कारागार के कपाट स्वयं ही खुल गए । द्वारपाल निद्रा में विभोर होकर सो गये । घोर वर्षा से बादलों ने चारों ओर जलवृष्टि की किन्तु स्वयम् शेषनाग ने तब अपने फणों की छाया से भगवान् की सुरक्षा की । इस रूप में भयानक जल और आ- वर्तों वाली नदी को पार कर वे श्री कृष्ण को गन्तव्य तक ले गए और इस प्रकार पुत्र की रक्षा पिता द्वारा हुई [2] ।

1· युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् ।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम् ।। भा0म0पु0, पृ0 485

2· तया हतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु द्वाःस्थेषु पौरेष्वपि शायितेष्वथ ।
द्वारस्तु सर्वाः पिहिताः दुरत्यया बृहत्कपाटायसकीलशृङ्खलैः ।।
मघोनि वर्षत्यसकृत् यमानुजा गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला ।
भयानकावर्तशताकुला नदी मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः ।।
नन्दव्रजं शौरिरुपेत्य तत्र तान् गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्य निद्रया ।
सुतं यशोदा शयने निधाय तत्सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात् ।।
वही, पृ0 485

एक पिता और दिखाई देता है जो अपने पुत्र के मोह में अत्यधिक रूप से मोहित है तथा चतुर्थ अवस्था में पहुँचने के बाद भी अपनी अवस्था का विचार नहीं करता। वह अहर्निश केवल उसी के प्यार और दुलार में तल्लीन रहता है। श्रीमद् भागवत्कार लिखते हैं कि वह अत्यधिक वृद्ध है किन्तु बालक को अपने हृदय में लगाकर रखता है। उसके बाल सुलभ चांचल्य को देखकर अत्यधिक प्रसन्न होता है। उसके भोजन करने पर स्वयम् भोजन करता, उसके जल पीने पर स्वयम् जल पीता है। अपनी अन्तिम गति के विषय में कोई विचार नहीं करता[1]।

इसके विपरीत एक पिता का वह रूप दिखाई देता है जिसमें वह क्रूर-तम रूप में है और अपनी इच्छा के अनुरूप व चलने पर अपने पितृ-भाव के विपरीत पुत्र का वध कराने की व्यवस्था करता है। वह चाहता है कि उसका पुत्र नारायण का भक्त न हो। क्योंकि प्रहलाद की मति नारायणश्रयी है इसलिए वह उसे हाथी के पैर से कुचलकर मरवा डालना चाहता है, पहाड़ के ऊपर से गिराकर मारना चाहता है, विष देकर उसके प्राण लेना चाहता है। यह भी एक पिता का ही रूप है[2]।

---

1. स बद्धहृदयस्तस्मिन्नर्भके कलभाषिणि ।
   निरीक्षमाणस्तल्लीलान् मुमुदे जठरो भृशम् ।।
   भुञ्जान: प्रपिबन् खादन् बालकस्नेहयन्त्रित: ।
   भोजयन् पाययन्मूढो न वेदागतमन्तकम् ।। भा0म0पु0, पृ0 308
2. दिग्गजैर्दन्दशूकैश्च अभिचारावपातनै: ।
   मायाभि: सन्निरोधैश्च गरदानैरभोजनै: ।।
   हिमवाय्वग्निसलिलै: पर्वताक्रमणैरपि ।
   न शशाक यदा हन्तुमपापमसुर: सुतम् ।। वही, पृ0 360

पति:-

पतिरूप में पुरुष का जो वर्णन श्रीमद्भागवत में किया गया है वह भी दृष्टव्य है। भगवान् श्रीकृष्ण के परम सखा सुदामा बड़े ही दीन और हीन अवस्था में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनकी पत्नी साध्वी और पति-भक्ता, पतिव्रता है। वह अपनी दीनता से दु:खी होकर जब अपने पति से कहती है कि भगवान्कृष्ण द्वारकाधीश हैं। आप वहाँ जाकर जब अपनी स्थिति का वर्णन करेंगे तो अवश्य ही वे आपकी स्थिति पर द्रवित हृदय हो जाएँगे और तब वे अपनी सहायता करेंगे। पतिरूप मे सुदामा पत्नी के इस सुझाव को मान लेते हैं और वे श्रीकृष्ण के यहाँ जाते हैं[1]। इसी प्रकार भगवान् शिव की पत्नी जब सती दक्ष के यज्ञ में देहत्याग करती हैं तो भगवान् शिव पत्नी के प्रति महत्वपूर्ण भाव रहने से क्रोधित हो उठते हैं और दक्ष के यज्ञ को विध्वंस करने का उपक्रम करते हैं[2]।

द्रोणपुत्र जब द्रोपदी के सोते हुए पुत्रों का वध कर देता है तो द्रोपदी बहुत विकल होती है। ऐसी अवस्था में पतिरूप में अर्जुन यह प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं उस आततायी का शिर लाकर द्रोपदी को शोक मुक्त करूँगा। वे अपने पराक्रम से ऐसा करते भी हैं[3]।

1· स एवं भार्यया विप्रो बहुश: प्रार्थितो मुहु ।
अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम् ।।
इति संचिन्त्य मनसा गमनाय मतिं दधे। भा०म०पु०,638-39

2· भवो भवान्या निधनं प्रजापतेरसत्कृताया अवगम्य नारदात् ।
स्वपार्षदसैन्यं च तदध्वरर्भुभिर्विद्रावितं क्रोधमपारमादधे ।।
क्रुद्ध: सुदष्टोष्ठपुट: स धूर्जटिर्जटां तडिद्वह्नि सरोग्ररोचिषम् ।
उत्कृत्य रुद्र: सहसोत्थितो हसन् गम्भीरनादो विससर्ज तां भुवि ।।
वही, पृ० 171

पुत्र :-

पुरुष रूप में पुत्र की भी अनेक भूमिकाएं श्रीमद्भागवत् पुराण में देखने को मिलती हैं। उदाहरण के लिए यदि कोई पुत्र अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए पिता को कारागार में डालता है तो कोई पुत्र अपने पिता की इच्छापूर्ति के लिए अपना यौवन पिता को दे देता है। कंस राज्य की इच्छा करता है और उसकी प्राप्ति के लिए सभी कुछ करने को उद्यत रहता है। पहले तो वह अपनी बहन और बहिन के पति वसुदेव को कारागार में डाल देता है और बाद में अपने पिता उग्रसेन को भी जेल में डाल देता है[1]।

एक अन्य सन्दर्भ में प्रहलाद का सन्दर्भ दूसरे रूप में देखा जा सकता है। प्रहलाद का पिता विष्णु विरोधी है। वह आसुरी शिक्षा देने के लिए प्रहलाद को शुक्राचार्य के आश्रम में भेजता है। किन्तु प्रहलाद उस वृत्ति से विपरीत ईश्वरानुरागी हो जाता है। तब प्रहलाद के पिता उसका वध कराना चाहता है किन्तु प्रहलाद अपने पिता को सन्मार्ग का उपदेश देकर पुत्रधर्म का पालन करता है[2]।

1· देवकीं वसुदेवं च निगृह्य निगडैर्गृहे ।
जातं जातमहन् पुत्रं तयोरजनशंकया ।।

x x x

आत्मानमिह संजातं जानन् प्राग् विष्णुना हतम् ।
महासुरं कालनेमिं यदुभि: स व्यरुध्यत ।।
उग्रसेनं च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम् ।
स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबल: ।। भा0म0पु0,पृ0 480

2· न केवलं मे भवतश्च राजन् सवैबलं बलिनां चापरेषाम् ।
परेऽवरेऽमी स्थिरजंगमा ये ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीता: ।। वही,पृ0 365

इसी रूप में दो पुत्रों के चरित्र का और उनकी पिता के प्रति व्यक्त की गई अपनी निष्ठा का स्वरूप हम और देख सकते हैं। ये दोनों हैं श्रीराम जो सम्राट् दशरथ के पुत्र हैं और दूसरे हैं पुरू,जो सम्राट् ययाति के पुत्र हैं। सूर्यवंश में उत्पन्न होने वाले श्रीराम एक ऐसे नायक और पुत्र हैं जिन्हें पिता की इच्छा और मर्यादा का सर्वाधिक ध्यान है। उनके पिता श्रीराम की विमाता कैकेयी की याचना से आबद्ध होकर श्रीराम को वन जाने का आदेश देते हैं। पिता की आ-ज्ञा का पालन करते हुए श्रीराम तुरन्त ही अवध का राज्य त्याग कर वन चले जाते हैं[1]।

महाराज ययाति का चरित्र बड़ा ही विस्मयकारक है। वे अपने पूरे जीवन में भोग करते हुए भी भोगों से तृप्त नहीं हुए। बाद में वृद्धावस्था आने पर अपनी तृप्ति के लिए अपने पुत्रों से युवावस्था की याचना करते हैं। उनके अनेक पुत्र उनकी इस याचना का तिरस्कार कर देते हैं किन्तु पुरू कहते हैं कि पिता का विचार मात्र यदि पुत्र के द्वारा पालित हो जाए तो वही उत्तम है। यही पुत्र का धर्म है। इस तरह पुरू अपना यौवन पिता को दे देते हैं[2]।

1· यः सत्यपाशपरिवीतपितुर्निदेशं स्त्रैणस्य चापि शिरसा जगृहे सभार्यः।
राज्यं श्रियं प्रणयिनः सुहृदो निवासं त्यक्त्वा ययौ वनमसूनिव मुक्तसंगः।।
भा०म०पु०,पृ० 45।

2· कोऽनु लोके मनुष्येन्द्र पितुरात्मकृतः पुमान् ।
प्रतिकर्तुं क्षमो यस्य प्रसादाद् विन्दते परम् ।।
उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः।
अधमो श्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः ।
इति प्रमुदितः पुरूः प्रत्यगृह्णाज्जरां पितुः।
सोऽपि तद्वयसा कामान् यथावज्जुजुषे नृप ।। वही,पृ० 465

नारी:-

नर और नारी का एक ऐसा योग है जो एक-दूसरे का पूरक है,प्रेरक है और सहगामी भी है । इसमें जहाँ पुरुष अपनी क्षमता से विशिष्ट है वहीं स्त्री भी अपनी क्षमता से कम नहीं है,विशेषकर अपनी स्त्रीत्व की शक्ति से । यदि श्रीमद् भागवत् में स्त्री के विविध रूप,जैसे माता,पत्नी और प्रिया आदि के रूप में देखा जाए तो यह दिखाई देगा कि इन रूपों में तो वह है ही,अपनी स्त्रीत्व की क्षमता वाली भी वह दिखाई देती है और इससे वह पुरुष को हर प्रकार से अपने वश में कर लेती है ।

एक स्थान पर दिति का एक विशेष रूप दिखाई देता है जो अपने पुत्रों के मारे जाने से बहुत दुखी है और उसका बदला लेने के लिए अपने पति से वरदान माँगती है । ऐसा करने के लिए वह अपने पति के सामने जब जाती है तो अपने मन्दहास्य का प्रयोग करती है । कटाक्षपात से अपनी लालित्य पूर्ण दृष्टि का उपयोग करती है और अपनी मधुर बातों से पति का मन वश में कर लेती है तथा अपने अनुरूप वर माँग लेती है[1] ।

इसी प्रकार से राजा पुरंजन का सन्दर्भ भी लिया जा सकता है जिससे वे अपनी पत्नी के रूप पाश में ऐसा बंधे कि बहुत समय तक वे अपना राज पाट ही भूल गए । उनका ऐसा होना केवल स्त्री की स्त्रीत्व शक्ति का ही परिणाम था [2] ।

1· इति भावेन सा भर्तुराचचारासकृत्प्रियम् ।
शुश्रूषयानुरागेण प्रश्रयेण दमेन च ।।
भक्त्या परमया राजन् मनोज्ञैर्वल्गुभाषितैः ।
मनो जग्राह भावज्ञा सुस्मितापाङ्गवीक्षणैः ।। भा०म०पु०,पृ० 344

2· तयैवं रममाणस्य कामकश्मलचेतसः ।
क्षणार्धमिव राजेन्द्र व्यतिक्रान्तं नवं वयः ।। वही,पृ० 242

माता:-

श्रीमद् भागवत् पुराण में स्त्री के मातृरूप के कई पक्ष प्रकट होते हैं अनेक पक्ष प्रकट होते हैं। एक पक्ष है माता द्वारा अपने पुत्र के लिए पक्षपात करना तथा दूसरे के पुत्र से ईर्ष्या का भाव रखना। इस सन्दर्भ में उत्तानपाद की पत्नी सुनीति और सुरूचि का सन्दर्भ लिया जा सकता है जिसमें यह वर्णन आया है कि एक समय राजा अपने पुत्र ध्रुव को दुलार कर रहे थे और सुरूचि के पुत्र के प्रति उपेक्षित थे। तब ईर्ष्या से भरकर सुरूचि ने कहा था कि वत्स। तुम राजा के अंक में बैठने का अधिकार नहीं रखते हो क्योंकि तुमने मेरी गोद से जन्म नहीं लिया है[1]।

एक अन्य रूप में माँ दिति है जो अपने पुत्रों के मारे जाने को भूल नहीं पाती और वह अपने तपस्वी पति से ऐसे पुत्र की कामना करती है जो इन्द्र को मार सके। इन्द्र ने ही उसके पुत्रों का बध किया था। वह इसके लिए अपने पति द्वारा बताए सभी व्रत तथा नियमों का पालन करती है[2]।

---

1. एकदा सुरूचेः पुत्रं अङ्कमारोप्य लालयन् ।
   उत्तमं नारूरूक्षन्तं ध्रुवं राजाभ्यनन्दत ।।
   तथा चिकीर्षमाणं तं सपत्न्यास्तनयं ध्रुवम् ।
   सुरूचिः श्रृण्वतो राज्ञः सेर्ष्यमाहातिगर्विता ।।
   न वत्स नृपतेर्धिष्ण्यं भवानारोढुमर्हति ।
   न गृहीतो मया यत्त्वं कुक्षावपि नृपात्मजः । भा०म०पु०, पृ०200
2. वरदो यदि मे ब्रह्मन् पुत्रमिन्द्रहणं व्रणे ।
   अमृत्युं मृतपुत्राहं येन मे घातितौ सुतौ ।। वही, पृ० 345

माता के रूप में एक अन्य चित्र और देखा जा सकता है जिसमें द्रोणपुत्र द्रोपदी के पाँचों पुत्रों का सोते समय वध कर देता है और देखकर माँ रूप में द्रोपदी अत्यधिक विकलता का अनुभव करती है । अर्जुन उस समय द्रोपदी को सान्त्वना देते हैं और द्रोण पुत्र को पकड़कर लाते हैं तथा उसका वध करने के लिए उद्यत होते हैं । तब द्रोपदी का हृदय पिघल जाता है और वह द्रोणपुत्र को मारने नहीं देती । द्रोपदी कहती है कि यह पूज्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ है इसलिए यह मारने योग्य नहीं है । यदि इसका वध किया जाएगा तो इसके शोक से इसकी माता भी मेरी तरह दुखित होकर रुदन करेगी । इसलिए मैं जिस तरह अपने पुत्रों के दु:ख से दुखित हूँ उस प्रकार इसकी माता दुखी न हो[1] ।

इसी प्रकार माँ रूप में देवकी का भी उल्लेख किया जा सकता है जो अपनी स्नेहमयता के कारण उन पुत्रों के लिए बहुत दुखी है जिनका वध जेल में कंस ने कर दिया था । तब, वह श्रीकृष्ण से उन पूर्व पुत्रों से मिलाने की प्रार्थना करती है और श्रीकृष्ण उन पुत्रों से मिलाते हैं[2] ।

1· उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती ।
मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः ।।

× × × ×

मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता ।
यथाहं मृतवत्सार्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः ।। भा० म०पु०, पृ० 61

2· तान् दृष्टवा बालकान् देवी पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी ।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्रदभीक्ष्णशः ।।
अपाययत् स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिप्लुता ।
मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्तते ।। वही, पृ० 652

पत्नी :-

श्रीमद्भागवत में स्त्रियों के लिए नियमों का निर्देश किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि स्त्री के लिए पति ही देवता है स्त्री को चाहिए कि वह पति की शुश्रूषा करे और उसकी अनुकूलता प्राप्त करे। सत्य वाक्यों से प्रेम से पति को प्रसन्न रखने का प्रयास करे। जो अपने पति को हरि के भाव से भजती है, वह हरि के लोक में प्रसन्नता पूर्वक जाती है[1]।

इस रूप में यदि देखा जाए तो श्रीकृष्ण की एक से अधिक पत्नियाँ होते हुए भी अपने पति की उपासना उसी भाँति करती हैं जैसे कोई भक्त श्री हरि की उपासना करता है। इसी लिए जब द्रौपदी रुक्मणी, जाम्बवती, कालिन्दी, भद्रा आदि से उनके विवाह और श्रीकृष्ण प्राप्ति के सम्बन्ध में पूँछती है तो वे सभी पति रूपी श्री कृष्ण के चरणों में अपनी प्रीति का कथन करती हैं[2]।

1· स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता ।
तद् बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रत धारणम् ।।
सम्मार्जनोपालेभ्यां गृहमण्डलवर्तनैः ।
स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा ।।

x x x x

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा ।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते ।।

2· निन्ये मृगेन्द्र इव भागमजावियूथात् तच्छ्रीनिकेतचरणोऽस्तु ममार्चनाय ।

x x x x

ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं मां पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुष्यदासी ।

x x x x

सख्योपेत्याग्रहीत् पाणिं योऽहं तद्गृहमार्जनी ।

भा० म० पु०, पृ० 644-645

इसी प्रकार की अहेतुक सेवा में लगीं और पति को ही अपना परम देवता मानने वालीं पत्नियों में द्रौपदी को भी गिना जा सकता है। यद्यपि द्रौपदी के पाँच पतियों का कथन है तथापि वह पतिपरायणा ही मानी जाती है। कर्दम पत्नी देवहूति का विवाह एक वनवासी ऋषि के साथ हुआ था। कर्दम ऋषि वन में रहकर तपस्या कर रहे थे। किन्तु इस राजकन्या ने वन में जाकर भी न तो किसी प्रकार का कष्ट का अनुभव किया और न ही पति की सेवा में उसे किसी प्रकार का संकोच हुआ। वह नित्यप्रति अपने पति की परि-चर्या इस प्रकार से करती रही जैसे भवानी भगवान् भूतभावन की परिचर्या करती हैं। उसने उनकी सेवा करते हुए अपने मन के काम का परित्याग कर दिया, दम्भ का परित्याग कर दिया, लोभ और द्वेष से उपरम् हो गई। नित्य साव-धान होकर, अप्रमत्तता का परित्याग कर अपने पति महर्षि कर्दम की सेवा में निरत रही। ऐसा करते हुए वह कुछ समय पश्चात् कृशमात्र वाली हो गई और तब उसके पति प्रसन्न हुए[1]।

---

1. पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिङ्गितकोविदा।
   नित्यं पर्यचरत्प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम्॥

× × × ×

विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च।
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः॥
विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभमघं मदम्।
अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोऽषयत्॥

× × × ×

कालेन भूयसा क्षामां कर्षितां व्रतचर्यया।
प्रेमगद्गदया वाचा पीडितः कृपयाब्रवीत्॥

भा० म०पु०, पृ० 57

प्रेयसी :-

श्रीमद् भागवत् पुराण में स्त्री का प्रेयसी का रूप भी देखने को मिलता है जिसमें वह पत्नी रूप में न होती हुई भी अपने प्रिय के साथ रमण करने को तत्पर होती है । इस उदाहरण के रूप में ययाति और शर्मिष्ठा का आख्यान उद्धृत किया जा सकता है । राजा ययाति का विवाह शुक्र की पुत्री देवयानी के साथ हुआ था । किन्तु आचार्य शुक्र की इच्छानुसार वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा को उसकी दासी बनाकर राजा के यहाँ भेजा गया था । बाद में शर्मिष्ठा और ययाति का प्रेम हुआ जिससे शर्मिष्ठा के साथ भोगकरने के लिए ययाति को अपने पुत्रों से युवावस्था माँगनी पड़ी । राजा की इस कामना पूर्ति में शर्मिष्ठा सहायक बनी [1] ।

भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र में तो आश्चर्यकर रूप से गोपिकाओं को प्रेयसी के रूप में देखा जा सकता है । भगवान् कृष्ण जब वेणुवादन करते हैं तो युवतियाँ अपने शिशुओं को पय पान कराने के बीच में ही छोड़ देती हैं । पतियों की सेवा जो कर रहीं थीं, वे पति सेवा बीच में ही छोड़ देती हैं और अपने प्रिय कृष्ण के पास आ जाती हैं ।

1· स्वानां तत् संकटं वीक्ष्य तदर्थस्य च गौरवम् ।
देवयानीं पर्यचरत् स्त्रीसहस्त्रेण दासवत् ।।
नाहुषस्य सुतां दत्वां सह शर्मिष्ठयोशना ।
तमाह राजञ्छर्मिष्ठामाधास्तल्पे न कर्हिचित् ।।

× × × ×

यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत ।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।। भा0म0पु0, पृ0464

2· परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्य: शिशून्पय: ।
शुश्रूषन्त्य: पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ।।
ता: वार्यमाणा पतिभि: पितृभिर्भ्रातृबन्धुभि: ।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिता: । वही, पृ0 534

श्रीकृष्ण अपनी इन प्रेयसियों के साथ अनेक प्रकार से रमण करते हैं और जैसे कोई कामी व्यवहार करता है, वे उसी प्रकार से व्यवहार करते हैं। गोपियों के व्यवहार से भी यही प्रकट होता है कि वे श्री कृष्ण की रमणी हैं, प्रिया हैं और उन्हें संसार में किसी से अन्य किसी प्रकार का प्रयोजन नहीं है। इसीलिए वे कभी गोपियों के कन्धे पर बैठते हैं और कभी उनसे छिपकर उन्हें खिझाते हैं। वे भी अपने प्रिय का एक क्षण का भी अलगाव सहन नहीं कर पातीं[1]।

एक अन्य स्थान पर श्रीकृष्ण मथुरा में जाकर एक प्रेयसी सैरन्ध्री के घर स्वयम् जाते हैं। वे यह जानते हैं कि सैरन्ध्री का मेरे प्रति प्रेम भाव है, इसलिए वे उसे अपने प्रेम से तृप्त करने के लिए उसके घर जाते हैं। वह भी श्रीकृष्ण के इस प्रकार आने से आनन्द विहव्ल हो जाती है और प्रेयसी की तरह प्रेय के प्रिय प्रेम में डूब जाती है[2]।

---

1. एवमुक्त: प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति।
   ततश्चान्तर्दधे कृष्ण: सा वधूरन्वतप्यत ।।
   हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
   दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ।। भा0म0पु0, पृ0 538

2. अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शन:।
   सैरन्ध्र्या: कामतप्ताया: प्रियमिच्छन् गृहं ययौ ।।
   × × × ×
   सा मज्जनालेपदुकूलभूषणस्त्रग्गन्धताम्बूलसुधासनादिभि:।
   प्रसाधितात्मोपससार माधवं सव्रीडलीलोत्स्मितविभ्रमेक्षितै: ।।
   × × × ×
   सानङ्गतप्तकुचयोरुरसस्तथाक्ष्णोर्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती।
   दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्तमानन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम् ।।
   वही, पृ0 572

दासी :-

स्त्री का दासी रूप भी प्राचीन समय से ही सम्भवतः प्रचलित रहा है। श्रीमद् भागवत् पुराण में स्त्री के लिए दासी शब्द का प्रयोग हुआ है। एक रूप में तो वह भगवान् श्रीकृष्ण से प्रेम करती हुई स्वयम् को उनकी दासी बताती है[1]। दूसरे सन्दर्भों में सेविका के रूप में दासी शब्द कुछ हीनता के साथ वहाँ कहा गया है जहाँ पर अजामिल नामक ब्राह्मण को दासी पति कहा गया है[2]।

एक अन्य स्थान पर यह सन्दर्भ आया है कि देवयानी और शर्मिष्ठा में किसी बात को लेकर विवाद हुआ। उस विवाद की परिणति यह हुई कि शर्मिष्ठा के पिता को अपनी कन्या देवयानी की सेवा के लिए देनी पड़ी। वह देवयानी के साथ दासियों की तरह परिचर्या के लिए रही[3]। इसी प्रकार ब्राह्मण सुदामा जब भगवान् श्रीकृष्ण के यहाँ से वापस लौटकर अपने घर आए तो उन्होंने अनेक दासियों के बीच सुशोभित अपनी पत्नी को देखा[4]।

1· हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि महाभुज ।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ।। भा०म०पु०,पृ०538

2· कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद् दासीपतिरजामिलः ।
नाम्ना नष्ट सदाचारो दास्याः संसर्गदूषितः ।। भा०म०पु०,पृ० 308

3· तथेत्यवस्थिते प्राह देवयानी मनोगतम् ।
पित्रा दत्ता यतो यास्ये सानुगा यातु मामनु ।।
स्वानां तत् संकटं वीक्ष्य तदर्थस्य च गौरवम् ।
देवयानीं पर्यचरत् स्त्रीसहस्त्रेण दासवत् ।। वही,पृ० 464

4· पत्नी वीक्ष्य विस्फुरन्ती देवीं वैमानिकीमिव ।
दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्ती स विस्मितः ।।
भा० म०पु०,पृ० 641

सूर्यवंश का विशिष्ट वर्णन:-

भारतीय इतिहास में राजवंशों की परम्परा में सूर्यवंश और चन्द्रवंश अत्यधिक महत्वपूर्ण वंश हैं। इन दोनों वंशों में परम प्रसिद्ध ऋषि, प्रशासक, योद्धा, त्यागी और बहादुर उत्पन्न हुए हैं। श्री परीक्षित के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री शुक महाराज ने पहले सूर्यवंश का वर्णन किया है। इस वंश की आदि उत्पत्ति का कथन करते हुए कहा गया है कि सर्वभूतों का जो आत्मा है, उसी की नाभि से एक स्वर्ण कमल उत्पन्न हुआ जिसमें चतुरानन विधाता विराजमान थे। उन्हीं के मन से मरीचि, कश्यप तथा विवस्वान् ने जन्म लिया। तब मनु और श्रद्धा उत्पन्न हुए। मनु ने श्रद्धा की कोख से दस पुत्रों को जन्म दिया [1]।

इसी वंश क्रम में अम्बरीष का नाम एक सत्यनिष्ठ राजा के रूप में ख्यात है। अम्बरीष सूर्यवंश के ही राजा नाभाग के पुत्र थे। एक बार वे एकादशी का व्रत थे जब महर्षि दुर्वासा उनके यहाँ आए और उन्होंने अपने भोजन करने के पूर्व राजा द्वारा पारण कर लेने पर राजा को श्राप देना चाहा। तब भगवन्निष्ठा होने के कारण स्वयं भगवान् ने उनकी रक्षा की [2]।

1· ततो मनु: श्राद्धदेव: संज्ञायामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान्॥
इक्ष्वाकुनृगशर्यातिदिष्टधृष्टकरूषकान्।
नरिष्यन्तं पृषध्रं च नभगं च कविं विदु:॥

भा० म० पु०, पृ० 435

2· अम्बरीषो महाभाग: सप्तद्वीपवतीं महीम्।
अव्ययां च श्रियं लब्ध्वा विभवं चातुलं भुवि॥

x x x

वासुदेवे भगवति तद्भक्तेषु च साधुषु।
प्राप्तो भावं परं विश्वं येनेदं लोष्टवत् स्मृतम्॥

वही, पृ० 440

इसी वंश में मान्धाता, त्रिशंकु और हरिश्चन्द्र तथा राजा सगर के चरित्र प्राप्त होते हैं। इनमें से त्रिशंकु अपने अद्भुत चरित्र से आकाश में गए और अभी तक वहीं पर हैं। हरिश्चन्द्र ने अपने पुत्र रोहित के स्नेहवश उसे वरुण को दिया नहीं, इसलिए वरुण ने हरिश्चन्द्र को रुग्ण कर दिया। बाद में रोहित ने ही अपने पिता को रोगमुक्त कराया[1]।

सूर्य वंश में अज और अज से दशरथ तथा दशरथ के भी राम हुए। श्रीराम की मर्यादा और राज्य संचालन की नीति ने उन्हें भगवान् की उपाधि से विभूषित किया। त्रेता में भगवान् श्री राम के राज्य करते हुए सभी प्राणी सुखी हुए। वे एक पत्नीव्रत थे और उनका चरित्र राजर्षि जैसा था। वे स्वधर्म का पालन करते थे और सभी को यह धर्म पालन करने की शिक्षा देते थे[2]। यह वंश श्री राम और उनके भाइयों के द्वारा इक्ष्वाकु से निमि तक चलता रहा। और इसी क्रम में विदेह का वंश निमि वंश कहा गया[3]।

1· सशरीरो गत: स्वर्गमद्यापि दिवि दृश्यते।
पातितो वाक् शिर: देवैस्तेनैव स्तम्भितो बलात्।
x x x x
सोऽनपत्यो विषण्णात्मा नारदस्योपदेशत:।
वरुणं शरणं यात: पुत्रो मे जायतां प्रभो॥
x x x x
शुन: शेपं पशुं पित्रे प्रदाय समवन्दत।
तत: पुरुषमेधेन हरिश्चन्द्रो महायशा:।
मुक्तोदरो यजद् देवान् वरुणादीन् महत्कथ:।
विश्वामित्रोऽभवत् तस्मिन् होता चाध्वर्युरात्मवान्॥ भा०म०पु०, पृ०447

2· वही, पृ० 454

3· वही, पृ० 456

चन्द्रवंश :-

चन्द्रवंश की उत्पत्ति भी भगवान् के उसी विराट् रूप से ही हुई। भगवान् के नाभिकमल से उत्पन्न हुए ब्रह्मा पुत्र अत्रि हुए। उनके अनन्त प्रभाव से उनके नेत्रों से अमृतमय सोम का जन्म हुआ। यह विप्रों, औषधियों और नक्षत्रों का पति कहा गया। इसने अपने पौरुष से यज्ञ किया और अपने दर्प से बृहस्पति की पत्नी तारा को अपनी पत्नी बना लिया। बाद में सोम से बुध की उत्पत्ति हुई। बाद में इसी क्रम में पुरूरवा ने जन्म लिया जो कन्दर्प की भाँति सुन्दर था। बाद में उसके रूप से आकर्षित होकर उर्वशी ने उसके साथ रमण किया[1]।

इसके बाद इस वंश में ऐल और उर्वशी के आयुः, श्रुतायुः, सत्यायुः, रय, विजय और जय छह पुत्र उत्पन्न हुए। बाद में इससे गंगापान करने वाले जह्नु, तथा गाधि राजा तक के वंश का विस्तार हुआ। इसी वंश में महर्षि जमदग्नि हुए जिनके पुत्र परशुराम का आख्यान प्रसिद्ध है[2]। यही वंश आगे चलकर भरत, रन्तिदेव तक विस्तार पाता रहा।

---

1. तस्य दृग्भ्योऽभवत् पुत्रः सोमोऽमृतमयः किल।
   विप्रौषध्युडुगणानां ब्रह्मणा कल्पितः पतिः ॥
   सोऽयजद् राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम्।
   पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात् तारां नामहरद् बलात् ॥

   × × × ×

   कस्यास्त्वयि न सज्जेत मनो दृष्टिश्च सुन्दर।
   यदङ्गान्तरमासाद्य च्यवते ह रिरंसया।

   भा० म० पु०, पृ० 475-458

2. वही, पृ० 460

इस रूप में श्रीमद्भागवत् पुराण का समालोचन करने पर यह स्पष्ट होता है कि भागवतकार ने उस समय के समाज में जो पुरुष तथा स्त्री रूप के विभाग थे, उनका सांगोपांग वर्णन किया है । इस वर्णन में उन्होंने पुरुषों के तथा स्त्रियों के उन रूपों का भी कथन किया है, जिसका उदाहरण उस समय दिखाई देता था । तब,पुरुष और स्त्री अधिकतम रूप में अपनी-अपनी मर्यादाओं का पालन करते थे,यद्यपि इसमें कहीं अतिक्रमण भी होता था ।

राजवंशों में सूर्यवंश और चन्द्रवंश प्रसिद्ध वंश हैं और इन वंशों की उत्पत्ति, विकास तथा विलास का जैसा वर्णन श्रीमद् भागवत् में किया गया है,वह अनूठा है ।

पंचम अध्याय

(आलोच्य पुराण में वर्णित संस्कार व्यवस्था)

पंचम अध्याय

§ आलोच्य पुराण में वर्णित संस्कार §

सिद्धान्त तथा वर्गीकरण,गर्भाधान संस्कार,पुंसवन संस्कार,जातकर्म संस्कार,
नामकरण संस्कार,वेदारम्भ संस्कार,समावर्तन संस्कार,विवाह संस्कार,
अन्त्येष्टि संस्कार,वानप्रस्थ संस्कार,संन्यासाश्रम ,शकुन तथा अपशकुन,
अन्य मांगलिक कार्य ।

पंचम अध्याय

(आलोच्य पुराण में वर्णित संस्कार)

सिद्धान्त तथा वर्गीकरण -

भारत की प्राचीन परम्परा का एक सुखद पक्ष यह है कि इस परम्परा में एक व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास पर विशेष ध्यान दिया जाता था। तब सम्भवतः इस दृष्टि की स्थापना हो चुकी थी कि मनुष्य की पूर्णता के लिए उसका सम्पूर्ण विकास अपेक्षित होता है। संस्कार शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से सम्पन्न होता है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जाने वाले शुद्धि के कार्य। इन संस्कारों में आरम्भिक विचार, धार्मिक विधि विधान, उनके सहवर्ती नियम तथा अनुष्ठान भी सम्मिलित हैं जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक दैहिक संस्कार न होकर संस्कार्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार, शुद्धि और पूर्णता भी है। संस्कारों के सविधि अनुष्ठानों से संस्कृत व्यक्ति में विलक्षण तथा अवर्णीय गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है।[1] आचार्य शबर ने अपने शाबरभाष्य में यह लिखा है कि संस्कार वह है जिसके सम्पादित किये जाने से पदार्थ या व्यक्ति कार्य-योग्य हो जाता है।[2] एक अन्य आचार्य अपना यह मत व्यक्त करते हैं कि संस्कारों से तीन प्रकार के कार्य सम्पन्न होते हैं। एक दोष मार्जन का, दूसरा अतिशयाधान का तथा तीसरा हीनाङ्गपूर्ति का। हमारे द्वारा उत्पन्न किये गए पदार्थ में यदि कोई दोष आ जाए तो उसे दूर करने के लिए

---

1. आत्मशरीरान्यतर निष्ठो विहित क्रिया जन्योऽतिशय विशेषः संस्कारः वी0प्र0, पृ0 132

2. जै0 सू0 3/1/3

दोष परिमार्जन संस्कार है। वस्तु अथवा व्यक्ति को उपयोगी बनाने के लिए उसमें कुछ विशेषता उत्पन्न कर देना अतिशयाधान संस्कार है, फिर भी कोई त्रुटि रह जाए तो किसी अन्य पदार्थ का मिश्रण कर देना त्रुटि पूर्ण होना हीनाङ्ग-पूर्ति संस्कार है।[1]

मीमांसा दर्शन में आचार्य यह मानते हैं कि संस्कार यज्ञांग हैं। भूसा, पुरोडाशादि की विधिवत् शुद्धि से इसका आशय है।[2] साहित्यिक परम्परा में संस्कार शब्द से अभिप्राय शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, व्याकरण सम्बंधी ज्ञान, शुद्धि, संस्करण, स्वभाव क्रिया आदि से लिया गया है।[3]

आचार्य मनु संस्कारों के सम्बंध में यह कहते हैं कि वैदिक कृत्यों के द्वारा तथा पुण्यवाचक निषेचनादि कर्मों के द्वारा संस्कार इहलोक में तथा परलोक में जाने पर होना चाहिए।[4] जिस प्रकार संस्कार के अर्थ को लेकर मत भिन्नता है, उसी प्रकार से संस्कार कितने प्रकार के होते हैं - इस पर भी भिन्न-2 आचार्यों के मत प्राप्त होते हैं।

- -

1. वै0 भा0 सं0, पृ0 207

2. प्रोक्षणादिजन्य संस्कारो यज्ञाङ्गपुरोडाशेष्विति द्रव्यधर्मः। का05, पृ05188

3. रघु 3/35, कु0 सं0 1/28, हि0 1/8

4. वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादि द्विजन्मनाम्।
   कार्यः शरीरसंस्कारः पावनं प्रेत्य चेह च।।
   म0स्मृ0 1/26

दोष परिमार्जन संस्कार है। वस्तु अथवा व्यक्ति को उपयोगी बनाने के लिए उसमें कुछ विशेषता उत्पन्न कर देना अतिशयाधान संस्कार है, फिर भी कोई त्रुटि रह जाए तो किसी अन्य पदार्थ का मिश्रण कर देना त्रुटि पूर्ण होना हीनाङ्ग-पूर्ति संस्कार है।[1]

मीमांसा दर्शन में आचार्य यह मानते हैं कि संस्कार यज्ञांग हैं। भूत, पुरोडाशादि की विधिवत् शुद्धि से इसका आशय है।[2] साहित्यिक परम्परा में संस्कार शब्द से अभिप्राय शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, व्याकरण सम्बंधी ज्ञान, शुद्धि, संस्करण, स्वभाव क्रिया आदि से लिया गया है।[3]

आचार्य मनु संस्कारों के सम्बंध में यह कहते हैं कि वैदिक कृत्यों के द्वारा तथा पुण्यवाचक निषेचनादि कर्मों के द्वारा संस्कार इहलोक में तथा परलोक में जाने पर होना चाहिए।[4] जिस प्रकार संस्कार के अर्थ को लेकर मत भिन्नता है, उसी प्रकार से संस्कार कितने प्रकार के होते हैं - इस पर भी भिन्न-2 आचार्यों के मत प्राप्त होते हैं।

---

1. वै० भा० सं०, पृ० 207

2. प्रोषणादिजन्य संस्कारो यज्ञांगपुरोडाशेष्विति द्रव्यधर्मः। का०5, पृ०5188

3. रघु 3/35, कु० सं० 1/28, कि० 1/8

4. वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादि द्विजन्मनाम्।
   कार्यः शरीरसंस्कारः पावनं प्रेत्य चेह च ॥
   म० स्मृ० 1/26

संस्कारों की संख्या के सम्बंध में जो विवरण प्राप्त होते हैं, उनके अनुसार आश्वलायन गृह्यसूत्र विवाह, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकर्म, अन्नप्राशन, उपनयन, समावर्तन तथा अन्त्येष्टि नामक संस्कारों के रूप में ग्यारह संस्कारों को स्वीकार करता है।[1] इन संस्कारों के साथ केशान्त तथा निष्क्रमण नामक दो और संस्कारों को जोड़ कर अन्यत्र इनकी संख्या तेरह दी गई है। कहीं-कहीं पर गोदान तथा दन्तोद्गमन नामक दो नवीन नामों की परिकल्पना की गई है।[2] गौतमधर्म सूत्र में संस्कारों की गणना चालीस की संख्या तक की गई है।[3] महर्षि अंगिरा ने पचीस संस्कारों की गिनती की है।[4] महर्षि व्यास ने गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नाम क्रिया, निष्क्रमण, अन्नप्रासन, चयनक्रिया, वर्णभेद, व्रतादेश, वेदारंभ, केशान्त स्नान, समावर्तन, विवाहाग्नि परिग्रह, प्रेताग्नि संग्रह नामक सोलह संस्कार गिनाये हैं।[5]

महर्षि मनु ने गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामधेय, निष्क्रमण, अन्नप्रासन, चूड़ाकर्म, उपनयन, केशान्त, समावर्तन, विवाह तथा श्मशानकर्म नामक संस्कारों की गणना की है।[6] महर्षि याज्ञवल्क्य ने केशान्त संस्कार नहीं माना है। शेष आचार्य मनु के द्वारा निर्दिष्ट संस्कार ही स्वीकार करते हैं।

1- हि0 सं0, पृ0 21-22

2- वही, पृ0 21-22

3- षो0 वि0, पृ0 1-3

4- हि॰सं॰, पृ0 24

5- षो0वि0, पृ0 1-3

6- म0स्मृ0, पृ0 26-30

7- या0स्मृ0 1/2

इन संस्कारों का यद्यपि समान महत्त्व है तथापि इनको समय के अनुरूप कई भागों में भी बाँटकर देखा जाता है, जैसे जो संस्कार जातक के जन्म के पूर्व होते हैं, उन्हें प्राग् जन्म संस्कार कहा जाता है, जो संस्कार बाल्यावस्था से सम्बद्ध होते हैं, उन्हें बाल्यकालीन संस्कार कहते हैं। जिन संस्कारों का सम्बंध शिक्षा से होता है, उन्हें शिक्षाकालीन संस्कार कहा जाता है। इसी तरह से जो संस्कार आश्रमीय व्यवस्था से सम्बद्ध है, वे आश्रम सम्बंधी संस्कार तथा जो संस्कार मृत्यु के उपरान्त होते हैं, वे जीवनोपरान्त संस्कार कहे जाते हैं। इन संस्कारों में गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन संस्कार प्राग् जन्म संस्कार हैं क्योंकि इनका सम्पादन जातक के जन्म के पूर्व होता है। जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्न प्राशन, चूड़ाकर्म तथा कर्णवेध संस्कार बाल्यकालीन संस्कार हैं। उपनयन, वेदारम्भ तथा समावर्तन संस्कार शिक्षा कालीन संस्कार हैं। विवाह, वानप्रस्थ तथा संन्यास संस्कार आश्रम सम्बंधी होने के कारण आश्रमीय संस्कार हैं। जीवन की सम्पन्नता के बाद जो संस्कार जातक का किया जाता है, वह जन्मोत्तर संस्कार अन्त्येष्टि संस्कार के नाम से जाना जाता है। ये सभी संस्कार प्राचीन समय में समाज में प्रचलित थे जिनसे जातक के जीवन को संस्कारित किया जाता था। श्रीमद्भागवत पुराण में सभी का उल्लेख नहीं है, किन्तु प्रमुख संस्कारों का वर्णन अवश्य प्राप्त है।

गर्भाधान संस्कार

संस्कार -परम्परा इसलिए प्राचीन परम्परा कही जाती है क्योंकि हमारे प्राचीन साहित्य में भी संकेतात्मक रूप से इस परम्परा के बीज मिलते हैं। जैसे कि "प्रजातंत्र मा व्यवच्छेत्सी:" इस वाक्य से यह संकेत लिया गया है कि इसका अभिप्राय सम्भवत: गर्भाधान संस्कार से ही था।[1] उपनिषद् में तो इस प्रक्रिया का प्रकट रूप ही कहा गया है और वहाँ पर विधिवत् इसका विवरण किया गया है। बृहदारण्यक में यह वर्णन है कि जो पुरुष अपने पुत्र को विख्यात पण्डित, सार्थक वाणी बोलने वाला, सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करने वाला और सौ वर्ष तक जीने वाला चाहता हो, वह विधिपूर्वक ही गर्भाधान संस्कार करे। वह पत्नी के साथ संयोग करते समय "विष्णु योनिं कल्पयतु" इस मंत्र का पाठ करे और इसी रीति से गर्भाधान संस्कार सम्पादित करे।[2]

पुराण परम्परा में संस्कारों के सम्बंध में पर्याप्त रूप से प्रकाश पड़ता है। जो प्राचीन संस्कार, विशेष रूप से षोडश संस्कार, मनु के द्वारा स्वीकृत हैं, पुराणों में इनको किसी न किसी रूप में वर्णित किया गया है। गर्भाधान संस्कार के विषय में मत्स्यपुराण में हिरण्यगर्भदान विधि के सन्दर्भ में कहा गया है और इसी क्रम में षोडश संस्कारों की चर्चा वहाँ पर है।[3]

---

1. ध० इ० ,पृ० 18।
2. अथास्या ऊरू विहापयति विजहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधाय त्रिरेनामनु लोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु । आसिंचतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके । गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्कर स्रजौ।
   ई०बृ०उ०,पृ० 423
3. म०पु०॥॥,पृ० 1064

पुंसवन संस्कार -

यह संस्कार गर्भस्थिति का ज्ञान होने के पश्चात् दूसरे या तीसरे महीने में किया जाता है। इस संस्कार का लक्ष्य पुत्रोत्पत्ति है। अथर्ववेद में कहा गया है कि यदि पीपल के वृक्ष पर शमी का पेड़ उत्पन्न हुआ हो तो शास्त्रोक्त विधि से उसका सेवन करने पर गर्भ में निश्चित रूप से पुत्र की स्थिति होती है।[1] एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि मार्गशीर्ष के शुक्ल पक्ष में आरम्भ होने वाला व्रत पति की आज्ञा से स्त्रियाँ करती हैं। इसमें विधि विशेष से लक्ष्मीनारायण की पूजा होती है। इस पूजा में बारह आहूतियाँ दी जाती हैं। यह क्रम बारह महीने तक चलता है और कार्तिक के अंतिम दिन स्त्री उपवास करती है। दूसरे दिन पाकयज्ञ के नियमानुसार पति बलि या नैवेद्य देता है। ब्राह्मण भोजन के उपरान्त अवशेष चरू पत्नी को दिया जाता है। जिससे मनोवाँछित फल प्राप्त होता है। इस व्रत को विवाहिता स्त्रियाँ तथा अविवाहिता स्त्रियाँ शुभकामनार्थ भी करती हैं।

श्री मद्भागवत् पुराण में महर्षि कश्यप ने दिति के लिए इस व्रत के विधान का कथन किया था। महर्षि ने कहा था कि इस व्रतकाल में किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, अनृत भाषण न करना, अस्पृश्य का स्पर्श न करना, नख और रोम का कर्तन न करना, दुर्जन के साथ सम्भाषण न

---

1. शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि।।
अथर्व 6/11/1

करना, उच्छिष्ट भोजन न करना ,सामिष अन्न न खाना ,अंजलि से जल पीना ,असंयत वाक्य नहीं बोलना,धुले वस्त्र धारण करना ,सभी प्रकार के मंगल से संयुक्त रहना, गो ,विप्र और श्री हरि की पूजा करना,वीर स्त्रियों की पूजा करना, पति की यथाविधि अर्चना करना। महर्षि कश्यप ने कहा कि यदि इस व्रत को एक संवत्सर तक सम्पादित कर लोगी तो इन्द्र को भी पराजित करने वाला पुत्र तुम्हें प्राप्त होगा।[1]

मत्स्यपुराण यह संकेत करता है कि जो व्यक्ति गर्भाधान ,पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन संस्कार संपन्न करे वह हिरण्यगर्भदान की विधि भी सम्पन्न करे। यह दान मंगल करने वाला और महापातकों का विनाशक है।[2]

1· न हिंस्याद् भूतजातानि न शपेन्नानृतंवदेत ।
न छिन्द्यान्नखरोमाणि न स्पृशेद् यदमंगलम् ।।
नाप्सु स्नायान्न कुप्येत न सम्भाषेत दुर्जनै : ।
न वसीताधौतवास: स्रजं च विधृतां क्वचित्।।
नोच्छिष्टं चण्डिकान्नं च सामिषं वृषलाहृतम् ।
भुञ्जीतोदक्यया दृष्टं पिबेदञ्जलिना त्वप: ।।
x x x x x
नाधौतपादाप्रयता नार्द्रपान्नो उदक्शिरा: ।
शयीत नापराङ्·नान्यैनर्न नग्ना न च सन्ध्ययो: ।।
x x x x x
सांवत्सरं पुंसवनं व्रतमेतदविप्लुतम् ।
धारयिष्यसि चेत् तुभ्यं शक्रहा भविता सुत:।।
भा०म०पु०, पृ० 345

2· म०पु०§2§ ,पृ० 1064

जातकर्म संस्कार -

इस संस्कार का उल्लेख भी प्राचीनकाल से ही मिलता है। वेद के एक अंश में यह निरूपण है कि जमदग्नि, कश्यप तथा दिव्य शक्तियाँ तिगुनी आयुष्यवाली हैं। इसी प्रकार इस जातक को भी तिगुनी आयु प्राप्त होवे।[1] इसी प्रकार तैत्तरीय संहिता में यह कहा गया है कि जब किसी के पुत्र उत्पन्न हो, तब वह वैश्वानर को बारह विभिन्न पात्रों में पकी हुई रोटी की बलि प्रदान करें। जिस पुत्र के निमित्त यह कार्य किया जाता है, वह गौरवशाली और धन-धान्य से युक्त होता है।[2]

श्रीमद् भागवत्पुराण में जातकर्म संस्कार का उल्लेख दो बार आया है। एक सन्दर्भ तो वह है जब पाण्डुवंश में पुत्रोत्पत्ति हुई जो राजा ने धौम्य नामक विप्र को बुलाकर सन्तति का जातकर्म संस्कार कराया। इसके अनन्तर ब्राह्मणों द्वारा मंगलवाचन हुआ। विप्रों के लिए स्वर्ण, गाय, भूमि, हस्ति दिए गए। इस प्रकार का दान पाकर सभी ब्राह्मण परम विप्र प्रसन्न हुए और उन्होंने पुत्र को आशीर्वाद प्रदान किया तथा यह कहा कि यह पौरव वंश में श्रेष्ठतम् होगा।[3]

---

1. त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
   यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ।। यजु0 3/62
2. तै0 सं0 2/2/5/3-4
3. तस्य प्रीतमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः
   जातकं कारयामास वाचयित्वा च मंगलम् ।।
   हिरण्यं गां महीं ग्रामान् हस्त्यश्वान्नृपतिर्वरान् ।
   प्रादात्स्वन्नं च विप्रेभ्यः प्रजातीर्थे स तीर्थवित ।।
   भा0म0पु0, पृ0 71

एक अन्य स्थान पर यह संदर्भ आया है कि नन्द के जब आत्मज ने जन्म लिया तो नन्द परम प्रसन्नता को प्राप्त हुए। उन्होंने परम प्रसन्न होकर विप्रों का आह्वान किया, जो वेदज्ञ थे। उन्होंने आकर स्वस्त्ययवाचन किया और जातक के सभी प्रकार जातकर्म के संस्कार सम्पादित कराये। विधि पूर्वक पितृ अर्चन कराया और देवपूजन सम्पन्न कराया। इसके बाद नन्द ने गाएं अलंकृत कर विप्रों को दीं, रत्न, धन-धान्य, तिलादि का विविध रूप में दान किया।[1]

नामकरण संस्कार का संकेत भी वेदोपनिषदों में मिलता है। वेद के एक सन्दर्भ में यह कहा गया है कि पिता बच्चे की नासिका से निकलने वाली श्वास-प्रश्वास का स्पर्श कर कहता है कि हे वत्स! तू कौन है। तेरा नाम क्या है। हम तेरे नाम को जानते हैं और तुझे सोम के द्वारा तृप्त करते हैं। प्रभु हमें प्रजाओं के साथ सुन्दर प्रजा वाला बनायें, वीरों के द्वारा सुन्दर वीरों वाला बनाए और पोषण शक्तियों के साथ सुन्दरतापूर्वक पुष्ट करें।[2]

---

1. नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः ।
   आहूय विप्रान् वेदज्ञान स्नातः शुचिरलंकृतः।
   वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै ।
   कारयामास विधिवद् पितृदेवार्चनं तथा ।।
   धेनूनां नियुते प्रादाद् विप्रेभ्यः समलंकृते ।
   तिलाद्रीन् सप्त रत्नौघशात् कौम्भाम्बरावृतान् ।। भा०म०पु० , पृ०487
2. कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि।
   यस्यते नामा मन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम् ।। शु० यजु० 7/29

महर्षि मनु के सन्दर्भ में यह उद्धृत किया जा सकता है कि पुत्र के जन्म के दस अथवा बारह दिन पश्चात् तिथि और मुहूर्त की श्रेष्ठता देखकर बालक का नामकरण संस्कार करना चाहिए। इस प्रक्रिया में ब्राह्मण का नाम मंगलकारी ,क्षत्रिय का बलयुक्त, वैश्य का धनयुक्त तथा शूद्र का दास नाम वाला नाम रखना चाहिए।[1]

श्री मद्भागवत महापुराण में श्री कृष्ण और राम के नामकरण का सन्दर्भ आया है। यदुवंश में गर्ग नामक आचार्य कुल पुरोहित थे। वे वेदज्ञ और ज्ञानी थे। जब वे एक बार नन्दगृह पहुँचे तो नन्द ने उनका स्वागत किया तथा यशगान किया। नन्द ने महर्षि से कहा कि आप इस वंश के आचार्य हैं इसलिए इन बालकों के द्विजाति संस्कार कराने की कृपा करें। नन्द के द्वारा ऐसी प्रार्थना किये जाने पर आचार्य ने उन बालकों का नाम संस्कार कराया। उन्होंनें बालकों के नाम रखते हुए कहा कि यह रोहिणी पुत्र है, अपने गुणों से सुहृदों को आनंद देगा। इसका नाम अबसे राम होगा। इसमें बल की अधिकता होने से इसे बलराम भी कहा जायेगा। दूसरा बालक कृष्ण नाम का है और पूर्व में वसुदेव के यहाँ होने के कारण वासुदेव के नाम से कहा जायेगा।[2]

1- नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् ।
   पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते।। म0स्मृ0 ,पृ0 3।

2- एवं संप्रार्थितो विप्रः स्वचिकीर्षितमेवतत् ।
   चकार नामकरणं गूढो रहसि बालयोः।।
   x x x x
   अयं हि रोहिणीपुत्रो रमयन् सुहृदो गुणैः।
   आख्यास्यते राम इति बलाधिक्याद् बलं विदुः।।
   x x x x
   वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ।। भा0म0पु0, पृ0 493

वेदारम्भसंस्कार

यह संस्कार एक प्रकार से वेद परम्परा का महत्वपूर्ण संस्कार है क्योंकि इसी संस्कार के पश्चात् वेदाभ्यास का प्रारम्भ किया जाता था। इस संस्कार का प्रारम्भ गायत्री मंत्र के साथ होता था-ऐसा संकेत मिलता है। इसी के साथ यह भी कहा जाता है कि तब वेद का अध्यापन मौखिक ही था और पूरी परम्परा श्रुत्याधारित थी। एक स्थान पर इस सन्दर्भ में यह कहा गया है कि अन्तेवासी गुरु की बातें उसी प्रकार दुहराता है जिस प्रकार एक मेढक दूसरे मेढक की वाणी का अनुवर्तन करता है।[1] एक अन्य स्थान पर यह कथन है कि जो ब्रह्मचारी तपश्चर्यापूर्वक वेद का स्वाध्याय करता है वह पूर्ण विद्या होकर इस धरा पर प्रकाशित होता है।[2]

तब की शिक्षा में विद्या के दो रूप थे। एक परा विद्या और एक अपरा विद्या। अध्यात्म विद्या परा विद्या कही जाती है और विषयों से सम्बन्धित विद्या को अपरा विद्या कहते हैं।[3]

---

1. यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
   सर्वं तदेषा समृधेव पर्वं यत्सुवाचो वदनाथाध्यप्सु ।।
   ऋग् 7/103/5
2. तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपो तिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे ।
   सस्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते ।। अथर्व0 11/5/26
3. द्वे विद्ये वेदितव्ये इति अस्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ।
   तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पाव्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।
   मु0 उ0 1/1/4-5

मनुस्मृति में वेदारम्भ संस्कार को ब्रह्मचर्य आश्रम के रूप में कहा गया है। इस आश्रम का प्रारम्भ यज्ञोपवीत संस्कार के प्रारम्भ से माना गया है जिसमें यह कहा है कि ब्रह्म तेज की इच्छा करने वाले विप्र पांचवें वर्ष में, बल की कामना करने वाले क्षत्रिय छठवें वर्ष में और धन की इच्छा करने वाले वैश्य आठवें वर्ष में बालक का यज्ञोपवीत संस्कार करें। ब्राह्मण का सोलह वर्ष तक, क्षत्रिय का बारह वर्ष तक और वैश्य का चौबीस वर्ष तक गायत्री का अतिक्रमण नहीं होता है। यह इनका गौण काल होता है इसलिए इस समय तक यज्ञोपवीत संस्कार हो जाना चाहिए। यदि इस निर्धारित समय के अन्दर इनका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता तो ये सभी गायत्री से त्यागे निन्दित माने जाते हैं।[1]

इस नियम-निर्धारण के साथ यह संकेत भी किया गया है कि जो इन नियमों का पालन न करे उसके साथ किसी प्रकार का सम्पर्क न रखे। अर्थात् वे सभी, विशेषतः ब्राह्मण अशुद्ध हो जाते हैं इसलिए इनके साथ न तो शास्त्राध्ययन करे और न ही इनके साथ पाणिग्रहण संस्कार का सम्बन्ध स्थापित करे।[2]

---

1. ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे ।
   राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ।।
   आ षोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
   आ द्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ।।
   अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
   सावित्री पतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ।।

   म० स्मृ०, पृ० 32-33

2. वही, पृ० 33

वेदारम्भ का आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम है इसलिए इसका विधान वर्णित करते हुए यह विवेचन है कि ब्रह्मचारी मृगछाला धारण करे, दण्ड धारण करे, अपने लिए तथा अपने आचार्य के लिए भिक्षा की याचना करे ।[1]

अन्य स्थानों पर वेदाध्यायी के लिए जिन नियमों का विधान है, उनमें यह कथन है कि वेदाध्यायी दण्डधारण करे, मेखला पहने, भूमि पर शयन करे, गुरु- शुश्रूषा करे और अपने आहार के लिए भिक्षा की याचना करे । वह दोनों समय सन्ध्यावन्दन करे, हवन करे, अप्रमादी रहे और सभी प्राणियों पर दया करे। क्रोध का परिहार करे, सत्य का आश्रय ले तथा श्रद्धा पूर्वक गुरु अर्चना में लीन रहे। इस प्रकार के दस तथा उससे भी अधिक नियमों का आख्यान ब्रह्मचारी के लिए किया गया है।[2]

वेदारम्भ अथवा उपनयन संस्कार अपने प्रारम्भिक रूप में गुरु और शिष्य के परस्पर नैकट्य के द्योतक भी थे। इन संस्कारों में गुरु बालक को ब्रह्मचर्य की वेश-भूषा से मण्डित करता था और अपनी अंजलि का जल शिष्य की जलयुक्त अंजलि में डाल देता था। तब शिष्य उस जल को भूमि पर विसर्जित कर देता था। इसके बाद सूर्यावलोकन , हृदय स्पर्श, हवन आदि के कार्य

- -

1. म0 स्मृ0 , पृ0 33-35

2. दण्डी च मेखली चैव ह्यधःशायी तथा जटी ।
गुरुशुश्रूषणं भैक्षं विद्यार्थी ब्रह्मचारिणः ।।
उभे सन्ध्येऽवगाहश्च होमश्चारण्यवासिनाम् ।
अप्रमादो व्यवायश्च दया भूतेषु च क्षमा।
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा सत्यंच दशमं स्मृतम् ।
का0 पु0 , पृ0 15

सूर्यावलोकन, हृदय स्पर्श, हवन आदि के कार्य सम्पन्न कराए जाते थे [1]।

श्रीमद् भागवत् पुराण में इस संस्कार का एक सन्दर्भ इस रूप में आया है जिसमें यह कहा गया है कि भगवान् कृष्ण के सभी प्रकार के संस्कार कराए गए थे और वे बाद में आचार्य संदीपन के आश्रम में विद्या अध्ययन के लिए गए थे। राजा ने अपने पुरोहित और विद्वान् ब्राह्मण को बुलाकर द्विज संस्कृति के अनुसार श्री कृष्ण के संस्कार कराए। बाद में गुरुकुल में निवास करने की इच्छा से महर्षि सन्दीपन के आश्रम में काशी गए। वहाँ पर श्री कृष्ण की सेवाभावना और गुरुभक्ति से आचार्य परम तुष्ट हुए और उन्होंने अपने शिष्यों को सांगोपांग वेदाभ्यास कराया। उन्होंने धनुर्वेद, आन्वीक्षिकी, राजनीति तथा अन्य बहु विद्याओं का अध्ययन कराया [2]।

---

1. आ० गृ० सू० 1/20; पा० गृ० सू० 2/3; आ० रा० जन्मकाण्ड 9/77-83

2. ततश्च लब्धसंस्कारौ द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ।
गर्गाद् यदुकुलाचार्याद् गायत्रं व्रतमास्थितौ ।।

x x x x

अथो गुरुकुलेवासमिच्छन्तावुपजग्मतुः।
काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम् ।।

x x x x

तयोर्द्विजवरस्तुष्टः शुद्धभावानुवृत्तिभिः।
प्रोवाच वेदानखिलान् सांगोपनिषदो गुरुः ।।
सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान् न्यायपथांस्तथा।
तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिं च षड्विधाम् ।।

भा० म० पु०, पृ० 565

समावर्तन संस्कार :-

जब ब्रह्मचर्याश्रमवासी अध्येता आचार्यकुल में अपनी शिक्षा पूरी कर लेता था और उस आश्रम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए आता था, तब यह संस्कार संपादित किया जाता था । उस समय संपादित किए जाने वाले संस्कार को समावर्तन संस्कार कहते थे [1] । प्राचीन उपनिषद् में इस संस्कार के सम्पादन का उल्लेख उस रूप में मिलता है जिसमें यह कहा गया है कि आचार्य अपनी पूरी शिक्षा प्रदान करने के पश्चात् अन्तेवासी को यह उपदेश करता है कि सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद मत करो, आचार्य के लिए दक्षिणा रूप धन दो और प्रजातन्तु का उच्छेदन मत करो । सत्य से प्रमाद मत करो, धर्म में प्रमाद मत करो, कुशलता में प्रमाद मत करो, प्राणियों के प्रति प्रमाद मत करो, स्वाध्याय के प्रति प्रमाद मत करो । देव-पितृकार्य के प्रति प्रमाद मत करो [2] ।

---

1. तत्र समावर्तनं नाम वेदाध्ययनानन्तरं गुरुकुलात् स्वगृहागमनम् । वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग- । पृ0 564
2. वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां । प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । तै0 उ0 1/11

श्री मद्भागवत पुराण में यद्यपि इस संस्कार के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं है फिर भी एक ऐसा सन्दर्भ है जिसमें इस संस्कार का संकेतात्मक उल्लेख देखो को मिलता है। यह उल्लेख उस स्थान पर आता है जहाँ पर श्री कृष्ण के गुरु का पुत्र समुद्र में अन्तर्हित है और उसे लाने के लिए आचार्य अपने शिष्य श्री कृष्ण को आज्ञा देते हैं। आचार्य कहते हैं कि इस पुत्र को हे कृष्ण ! तुम लाओ। श्री कृष्ण आचार्य की आज्ञा के अनुपालन में समुद्र को आदेश देते हैं कि वह आचार्य पुत्र को प्रस्तुत करे। आचार्य का पुत्र इस रूप में प्राप्त होता है और आचार्य परम प्रसन्न होकर श्री कृष्ण से कहते हैं कि वत्स ! तुमने जो कार्य सम्पादित किया है, वह परम तुष्टिकारक है और मैं इस कार्य से परम प्रसन्न हूँ। अब तुम अपने घर जाओ। यशस्वी विद्या के अधिकारी बनो। तुम्हारी कीर्ति परमयशस्विनी होवे[1]।

1· सम्यक् सम्पादितो वत्स भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः ।
को नु युष्मद् विधगुरोः कामानामवशिष्यते ॥
गच्छन्तं स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्वामस्तु पावनी ।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥
गुरुणैवमनुज्ञातौ रथेनानिलरंहसा ।
आयातौ स्वपुरं तात पर्जन्यनिनदेन वै ॥

भा० पु०, पृ० 566

विवाह संस्कार :-

यह संस्कार मनुष्य -जीवन का महत्त्वपूर्ण संस्कार है। विवाह जीवन को उस स्थिति में पहुँचा देता है जहाँ शरीर रूप में पृथक्-पृथक् दिखने वाले दो एक रूप में हो जाते हैं और जीवन भर एक साथ रहने का व्रत लेते हैं। वेद-परम्परा में इस संस्कार का वर्णन विस्तार से किया गया है। वहाँ पर एक स्थान पर यह कहा गया है कि इस संस्कार के अवसर पर वर वधू से कहता है कि हे वरानने। मैं सन्तान और सौभाग्य वृद्धि हेतु तेरे हाथ को ग्रहण करता हूँ[1]। यह कहकर और वधू को एक पत्थर के ऊपर खड़े कर वर उसका हाथ अपने हाथ में लेता है तथा उसके साथ मिलकर अग्नि की परिक्रमा करता है। गर्भ धारण करने पर पत्नी को जाया कहा जाता है। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया गया है कि पति ही पुत्र रूप में पत्नी के गर्भ में जन्म लेता है[2]।

विवाह होने पर पति पत्नी को उसी प्रकार अपना सभी साम्राज्य सौंप देता है जिस प्रकार समुद्र सभी नदियों को अपना साम्राज्य दे देता है। दम्पति जीवन स्वीकार करने पर ही सन्तान की प्राप्ति होती है और सन्तान प्राप्ति के पश्चात् मुक्ति प्राप्त होने का क्रम बताया गया है[3]।

1· गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।। ऋग् 10/85/36

2· पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम्।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते।।
तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः।। ऐ0 ब्रा0 7/13

3· यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवं त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य।।
अथर्व0 14/1/43

एक अन्य स्थान पर यह वर्णन आता है कि वर के आगमन पर उसका सम्मान किया गया और उसे अनेक गाएँ प्रदान की गईं। इसी प्रकार वधू को आशीर्वाद देते हुए गुरुजन कहते हैं कि तुम घर में पुत्रों और पौत्रों के साथ प्रसन्नता पूर्वक जीवन यापन करो। इन्द्र तुम्हें दस पुत्र प्राप्त करावें। तुम अपने श्वसुर, सास, देवर और ननद की रानी बनो[1]।

यह संस्कार पवित्रता और संस्कारित जीवन के लिए उसी प्रकार से महत्त्वपूर्ण संस्कार था जैसे अन्य जीवन के संस्कार होते थे। इसलिए ऋग्वेद के यम-यमी संवाद को लेकर जिन्होंने भाई और बहिन के विवाह की परम्परा को स्वीकार किया है, यह ठीक नहीं है। इस सम्बन्ध को उचित नहीं माना गया[2]। यह मान्य परम्परा है और अत्यधिक मात्रा में स्वीकृत भी है कि वैदिक परम्परा शुचिता तथा श्रेष्ठता की परम्परा है इसलिए उस काल में इस प्रकार के सम्बन्ध को स्वीकृत नहीं किया जा सकता था।

1· सूर्याय वहतु: प्रागात्सविता यमवासृजत् ।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्यो पर्युह्यते ।।
x x x
इमां त्वमिन्द्र मीढ्व: सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
x x x
सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ।।

ऋग् 10/85/13; 10/85/45; 10/85/46

2· वै० सा० सं०, पृ० 130

प्राचीन ग्रन्थों में विवाह के अनेक रूपों का उल्लेख है । इनमें ब्राह्म विवाह, दैव विवाह, आर्ष विवाह, प्राजापत्य विवाह, आसुर विवाह, गान्धर्व विवाह, राक्षस विवाह, पैशाच विवाह कहे गए हैं[1] । इन विवाहों में से पिछ्लों ने ब्राह्मण के लिए पहले के चार विवाह कहे हैं । दैव, आर्ष, प्राजापत्य क्षत्रिय के लिए तथा राक्षस विवाह वैश्य और शूद्र के लिए कहे हैं । पीछे के पाँच विवाहों में तीन विवाह धर्म विवाह हैं । आसुर और पैशाच विवाह अधम हैं इसलिए इन विवाहों को कभी भी नहीं करना चाहिए[2] ।

इन विवाहों के अतिरिक्त सामान्य स्वयम्बर और विशेष स्वयम्बर विवाह भी तब के समय में प्रचलित था । जब कन्या ऋतुमती हो जाती थी और उसका पिता वर नहीं खोज पाता था तब वह स्वयम् ही अपना वर खोज लेती थी । यह सामान्य स्वयम्बर कहा जाता था । विशिष्ट स्वयम्बर में राजा दूर-दूर से राजाओं को आमंत्रित करता था और तब उसका स्वयम्बर होता था । इसमें कन्या को अपने अनुरूप वर चयन करने की स्वतन्त्रता थी[3] ।

1· ब्राह्मो दैवस्तथैवार्ष: प्राजापत्यस्तथासुर: ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधम: ।।
म० स्मृ० 3/21; आ० गृ० सू० 1/6; या० स्मृ० 1/50-61; बौ० ध० सू० 1/11/2-7

2· चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान् कवयो विदु: ।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकं आसुरं वैश्यशूद्रयो: ।।
पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह ।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ।। म० स्मृ० 3/24-25

3· या० स्मृ० 1/64 ; आ० रा० विवाह काण्ड 11/65; 3/63-64

श्रीमद् भागवत पुराण में विवाह के सन्दर्भ प्राप्त हैं। इन सन्दर्भों में एक स्थान पर श्री कृष्ण तथा रुक्मिणी के विवाह का प्रसंग प्राप्त है। इस प्रसंग के अनुसार रुक्मिणी भगवान् श्री कृष्ण का यश सुनकर उनसे ही विवाह करना चाहती थी किन्तु रुक्मिणी के पिता अपनी पुत्री का विवाह शिशुपाल के साथ करना चाहते थे। ऐसी स्थिति में रुक्मिणी व्यथित थी और वह बार-बार रुदन करती हुई यह कह रही थी कि भाग्य इस समय मेरे अनुकूल नहीं है। देवी, गौरी, रुद्राणी मेरी सहायता नहीं कर रही है। इसी मानसिक स्थिति में उसे सभी राजाओं के आगमन के साथ-साथ भगवान् श्री कृष्ण के आगमन का भी ज्ञान होता है। उसी समय उस राजकन्या के ऊरु, भुजाएँ और नेत्र स्फुरित होते हैं जिससे वह प्रसन्नता का अनुभव करती है[1]। इस रूप में विवाह संस्कार में यह दृष्टिगत होता है कि तब कन्या अपने हृदयगत भावों को प्रकट कर सकती है और तदनुरूप पति के लिए कामना करती है।

---

1. भीष्मकन्या वरारोहा काङ्क्षन्त्यागमनं हरे: ।
   प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती द्विजस्याचिन्तयत्तदा ।।
   अहो त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽल्पराधस: ।
   नागच्छत्यरविन्दाक्षो नाहं वेद्म्यत्र कारणम् ।।
   अपि मे यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किंचित् जुगुप्सितम् ।
   मत्पाणिग्रहणे नूनं नायाति हि कृतोद्यम: ।
   दुर्भगाया न मे धाता नानुकूलो महेश्वर: ।
   देवी वा विमुखा गौरी रुद्राणी गिरिजा सती ।।
   एवं चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा ।
   न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकलाकुले ।
   एवं वध्वा: प्रतीक्षन्त्या: गोविन्दागमनं नृप ।
   वाम ऊरुर्भुजो नेत्रमस्फुरन् प्रियभाषिण: ।। भा० म० पु०, पृ० 585

एक अन्य स्थान पर यह कहा है कि महाराज युधिष्ठिर से एक युवती ने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं देव सविता की दुहिता हूँ। कालिन्दी मेरा नाम है। मैं भगवान् विष्णु की उपासना इस निमित्त कर रही हूँ जिससे वे मुझे वर रूप में प्राप्त हों[1]। मैं पिता द्वारा निर्मित भवन में यमुना में निवास करती हूँ। इसी प्रकार से एक राजा नग्नजित् नाम का भी उल्लेख है जिसने वर के शौर्य की परीक्षा के लिए प्रतिज्ञा की थी और भगवान् श्री कृष्णने उसकी परीक्षा पूरी की थी। तब राजा ने विस्मित होकर और प्रसन्नता पूर्वक पुत्री भगवान् कृष्ण को प्रदान की थी। उस समय विविध शंखों की ध्वनि की गई थी, गीत गाए गए थे, दश हजार गौएँ दान में दी गईं थीं। हाथी और अश्व भी दिए गए थे[1]।

1· अहं देवस्य सवितुर्दुहिता पतिमिच्छती।
विष्णुं वरेण्यं वरदं तपः परममास्थितः॥
नान्यं पतिं वृणे वीर तमृते श्री निकेतनम्।
तुष्यतां मे स भगवान् मुकुन्दोऽनाथसंश्रयः॥

× × × ×

ततः प्रीतः सुतां राजा ददौ कृष्णाय विस्मितः।
तां प्रत्यगृह्णाद् भगवान् विधिवद् सदृशीं प्रभुः।
राजपत्न्यश्च दुहितुः कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिम्।
लेभिरे परमानन्दं जातश्च परमोत्सवः।

× × × ×

दशधेनुसहस्राणि पारिबर्हमदाद् विभुः।
युवतीनां त्रिसाहस्रं निष्कग्रीवसुवाससाम्॥
दम्पती रथमारोप्य महत्या सेनया वृतौ।
स्नेहप्रक्लिन्नहृदयो यापयामास कोसलः॥ भा० म० पु०, पृ० 596-597

अन्त्येष्टि संस्कार :-

अन्त्येष्टि संस्कार का उल्लेख भी प्राचीन वाङ्मय में मिलता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर यह कहा गया है कि जो शव पृथिवी में निक्षिप्त किए गए हैं अथवा अग्नि को समर्पित किए गए हैं वे स्मृतिवान् बनें[1]। इसी तरह से मृतक को प्रेत और उसके निवास को प्रेतलोक का नाम दिया गया है। जब मृतक का संस्कार किया जाता है तो उसका संबन्धी कहता है कि हे प्रेत। पशुओं को हिंसित न करने वाले पूषा देव तुझे इस स्थान से अन्यत्र ले जायें [2]।

श्रीमद् भागवत में अन्त्येष्टि संस्कार का कोई विधिवत् सन्दर्भ तो नहीं है किन्तु भीष्म और श्री कृष्ण के स्वर्गारोहण का वृतान्त अवश्य ही इंगित है। वहाँ एक स्थान पर यह कहा गया है कि महर्षि भीष्म ने अपनी आत्मा का आधान अपनी आत्मा में किया और अपनी श्वासों से उपराम हुए। भीष्म के ब्रह्म में अवस्थित होने पर सभी शान्त हो गए[3]। इसी एक स्थान पर यह उल्लेख है कि सभी देवों, गन्धर्वों की उपस्थिति में भगवान् श्री कृष्ण ने योगधारणा के द्वारा अपने धाम को प्रयाण किया [4]।

---

1. उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सुतिष्ठतु सहस्रंमित उपहि श्रयन्ताम्।
   ते गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र ।। ऋक् 10/18/12
2. पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वान् नष्ट पशुर्भुवनस्य गोपाः।
   सत्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ।। अथर्व० 18/2/54
3. भा० म० पु०, पृ० 66
4. भगवान् पितामहं वीक्ष्य विभूतीरात्मनो विभुः।
   संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ।।
   लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमंगलम्।
   योगधारणयाग्नेयादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ।। भा० म० पु०, पृ० 728

वानप्रस्थ संस्कार :-

गृहस्थाश्रम के लिए निर्धारित आयु जिन्होंने पूरी कर ली है और जो कठोर नियमों का पालन करते हुए वन में निवास करने हेतु तत्पर होते थे, वे वानप्रस्थ आश्रम को स्वीकार करते थे। इसीलिए "वने वन्येण नियमेन च तिष्ठति चरतीति वानप्रस्थ:" - यह वानप्रस्थ की परिभाषा दी गई है[1]। महर्षि मनु ने इसके लिए किसी विशेष संस्कार का वर्णन तो नहीं किया है किन्तु यह कहा है कि जब पुरुष के बाल सफेद हो जाएँ और वह विषय रोग से रहित हो जाए, तब वह पत्नी को साथ लेकर अथवा पत्नी को बच्चों के आश्रय में देकर वन में प्रस्थान करे। वहाँ पर वह संसार के उन सामान्य कष्टों से उपरत होने का अभ्यास करे जो सांसारिक जीवन में उसे बाधित करते हों। जैसे शीत, उष्ण आदि बाधाओं को सह सकने का उसे अभ्यास होने। गृहस्थ रहते हुए उसने क्रोध असहिष्णुता और लोभादि के विकारों में फँसकर प्राणी मात्र के साथ समान व्यवहार नहीं किया होगा। वानप्रस्थ आश्रम में आकर वह क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि के आवेगों से अपने को दूर रखे और सभी प्राणियों के साथ सम व्यवहार करने का अभ्यास करे। यहाँ तक कहा गया है कि वह फल-मूल आदि ही सेवन करे और अपना जीवन व्यतीत करे। पक्वान ग्रहण न करे[2]।

1· या० स्मृ० 3/45 पर मिताक्षरा

2· गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मन: ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ।।

x x x x

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा ।
कालपक्वै: स्वयं शीर्णैं वैखानसमते स्थित: ।।
स्वाध्याये नित्ययुक्त: स्याद्दान्तो मैत्र : समाहित: ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पक: ।। म० स्मृ० 6/2; 6/21; 6/8

श्रीमद् भागवत में वानप्रस्थाश्रम के सम्बन्ध में दो स्थानों पर संकेत किया गया है और यह संकेत ठीक उसी प्रकार का है,जैसा स्मृति-परम्परा में प्राप्त है। वहाँ कहा गया है कि जो प्रकृति से प्राप्त हो ,उसे सूर्य द्वारा स्वाभाविक रीति से पके हुए के रूप में प्राप्त करना चाहिए। नवीन-नवीन अन्न के प्राप्त होने पर पुराने-पुराने अन्न का परित्याग कर देना चाहिए। केश और रोमों का कर्तन नहीं करना चाहिए और जटली होकर वन में विचरण करना चाहिए। हाथ में कमण्डलु,दण्ड और अजिन चर्म धारण करना चाहिए। इसी प्रकार से अन्य स्थान पर यह वर्णन है कि जो वन में बसना चाहता है,वह अपनी आयु के तृतीय भाग में पत्नी को पुत्रों के ऊपर छोड़कर अथवा अपने साथ लेकर वन में निवास करे। कन्द ,मूल,फल आदि का सेवन करे और वल्कल वस्त्र धारण करे। ग्रीष्म में पंचाग्नि तपे और शिशिर में शीतल जल में वास करे। अग्निहोत्र आदि कार्य करे और इस प्रकार तपस्या में निरत रहें[1]।

---

1. न कृष्टपच्यमश्नीयादकृष्टं चाप्यकालतः।
   अग्निपक्वमथामं वा अर्कपक्वमुताहरेत् ।।

   x x x x

   केशरोमनखश्मश्रुमलानि जटिलो दधत् ।
   कमण्डल्वजिने दण्डवल्कलाग्निपरिच्छदान् ।।
   चरेद् वने द्वादशाब्दानष्टौ वा चतुरो मुनिः।
   द्वावेकं वा यथा बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः ।।

   x x x x

   वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा।
   वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः ।।

   x x x x

   एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धर्मनिसन्ततः।
   मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकादुपैति माम् ।। भा० म० पु०,पृ०378;70।

संन्यासाश्रम :-

वैदिक वाङ्मय में उपनिषद् ही ऐसे हैं जहाँ पर संन्यास आश्रम के सम्बन्ध स्पष्ट संकेत दिखाई देता है। एक स्थान पर यह कहा गया है कि वह आत्मा मिथ्याभाषण के त्यागरूप, मन और इन्द्रियों की एकाग्रता रूपी तप, यथार्थ आत्मदर्शन तथा ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त करने योग्य है। जिस आत्मा को दोष रहित यत्नशील संन्यासी देखते हैं वह प्रकाशस्वरूप शुद्ध आत्मा शरीर के भीतर रहता है [1]। इसी प्रकार से एक अन्य स्थान पर यह निरूपण है कि आत्मा अजन्मा, ज्योतिरूप है। यह हृदयाकाश में स्थित है। वह न शुभ कर्म से बढ़ता है और न अशुभ कर्म से घटता है। यह सर्व भूतों का अधिपति है। इस आत्मा को ब्रह्म जिज्ञासु वेदों के स्वाध्याय से, यज्ञ, दान तथा निष्काम कर्म से जानना चाहते हैं। इसी को जानकर मुनि हो जाते हैं। इस आत्म-लोक को चाहता हुआ त्यागी पुरुष सभी का परित्याग कर संन्यासी हो जाता है [2]।

1· सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रोऽयं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ।।

2· स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतु-र्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। वही, पृ0 377

मनुस्मृतिकार ने एक स्थान पर यह लिखा है कि ब्राह्मण सावधान होकर दस धर्म लक्षणों का पालन करे और विधिपूर्वक वेदान्त सुनकर तीनों ऋणों से मुक्त होकर संन्यासी हो जावे। इसी प्रकार से आगे यह कहा गया है कि अग्निहोत्रादि गृहस्थी के कर्मों को त्यागकर अज्ञान से मारे हुए जीवों के पाप को प्राणायामादि क्रिया द्वारा नष्ट करके इन्द्रियों को वश में करके वेद पढ़ता हुआ द्विज वस्त्र-भोजनादि की चिन्ता त्यागकर पुत्र से भिक्षा ले संन्यासी हो जावे[1]।

श्रीमद् भागवत महापुराण में संन्यास धर्म का पालन करने वालों के लिए यह कहा गया है कि इस व्रत का पालन करने वाला इच्छा-रहित हो, सभी प्रकार से परितुष्ट हो ,अजगर वृत्ति वाला हो। यह कहीं पर श्रद्धा से दिए हुए अन्न का उपभोग करे और कहीं पर अपमान भी हो तो ध्यान न दे। उसे चाहे क्षौम वस्त्र मिल जाए तो धारण करे अथवा वल्कल वस्त्र मिल जावे तो धारण करे। कभी स्नान कर सभी प्रकार सभी प्रकार के द्रव्यों का अनुलेपन कर जीवन व्यतीत करे तो कभी विपरीत परिस्थिति में रहे[2]।

---

1. दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् समाहितः ।
   वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ।।
   संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ।
   नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ।। म० स्मृ० 6/94-95
2. अनीहः परितुष्टात्मा यदृच्छोपनतादहम् ।
   नो चेच्छयेऽवहहानि महाहिरिव सत्ववान् ।।

   x x x x

   यो विद्याश्रुतसम्पन्न आत्मवान् नानुमानिकः ।
   मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि संन्यसेत् ।। भा० म० पु०,पृ० 379

शकुन तथा अपशकुन :-

एक स्थान पर श्रीमद् भागवत में शकुन होने का संकेत किया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणी का उद्वाह करने के लिए उद्यत होते हैं। जब तक श्री कृष्ण रुक्म के नगर में नहीं पहुँचते तब तक रुक्मिणी दुखित होकर रोती है। किन्तु जैसे ही भगवान् नगर में पहुँचते हैं रुक्मिणी की वाम ऊरु, भुजा और वामनेत्र स्फुरित होने लगता है जो शुभ शकुन का सूचक है। स्त्रियों का वामाङ्ग स्फुरित होना शुभकारक माना गया है। शकुन होते ही भगवान् कृष्ण पहुँच जाते हैं[1]।

एक अन्य सन्दर्भ में अपशकुन का भी संकेत किया गया है। अर्जुन बाहर गए हुए हैं। वे सात माह तक लौटकर वापस नहीं आते। युधिष्ठर चिन्ता करते हैं तथा अनेक प्रकार के अपशकुन देखते हैं। उन्हें देव सम्बन्धी, भूमि सम्बन्धी और शरीरधारियों के द्वारा अपशकुन देखने को मिलते हैं। उनकी जंघा फड़क रही है और बार-बार उनका शरीर कम्पायमान हो रहा है। इसी तरह से पशु रो रहे हैं। कपोल,उलूक विपरीत स्थिति में दिखाई दे रहे हैं। दिशाएँ धूमिल पड़ गई हैं और सूर्य मन्द हो गया है। ये सभी अपशकुन हैं जो भावि आशंका को जन्म देते हैं[2]।

1· एवं वध्वा: प्रतीक्षन्त्या गोविन्दागमनं नृप ।
वाम ऊरुर्भुजो नेत्रमस्फुरन् प्रियभाषिण: ।। भा0 म0 पु0 ,पृ0 585

2· पश्योत्पातान्नरव्याघ्र भौमान् सदैहिकान् ।

× × × ×

ऊर्वक्षिबाहवो मह्यं स्फुरन्त्यङ्ग पुन: पुन: ।
वेपथुश्चापि हृदये आराद् दास्यन्ति विप्रियम् ।

× × × ×

शस्ता: कुर्वन्ति मां सव्यं दक्षिणं पशवोऽपरे ।
वाहांश्च पुरुषव्याघ्र लक्षये रुदतो मम ।।

अन्य माङ्गलिक कार्य :-

श्रीमद् भागवत् महापुराण में अन्य माङ्गलिक कार्यों के सन्दर्भ भी स्थान-स्थान पर प्राप्त हैं । जैसे श्रीमद्भागवत में ही इस पुराण के प्रारम्भ करने के पूर्व मंगल व्यवस्था करने का संकेत दिया गया है और कहा गया है कि कथा में आने वाले विघ्नों के विघात के लिए सर्वप्रथम गणेश का पूजन करना चाहिए । उसके पश्चात् पितरों को संतृप्त करने के पश्चात् प्रायश्चित विधान पूरा करना चाहिए । तत्पश्चात् भगवान् हरि की स्थापना करनी चाहिए [1] ।

इसी प्रकार भगवान् कृष्ण के जातकर्म संस्कार के अवसर पर मांगलिक आचरण ब्रज के समाज में हो रहा है, सभी घरों में लेपन आदि कर स्वच्छता की गई है । चित्र माला, चन्दनादि के पल्लव लगाए गए हैं । मूल्यवान् वस्त्र पहन कर शिर में शिरोभूषण धारण कर गोप नन्द जी की घर पर एकत्रित हैं [2] ।

1· तीर्थे वापि वने गृहे वा श्रवणं मतम् ।
विशाला वसुधा यत्र कर्तव्यं तत्कथास्थलम् ।।
शोधनं मार्जनं भूमेर्लेपनं धातुमण्डनम् ।
गृहोपस्करमुद्धृत्य गृहकोणे निवेशयेत् ।।

x x x x

पितृन् संतर्प्य शुद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं समाचरेत् । भा० म० पु०, पृ० 43

x x x x

2· व्रजः सम्मृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरः ।
चित्रध्वजपताकास्त्रक्चैलपल्लवतोरणैः ।।

x x x x

महार्हवस्त्राभरणकञ्चुकोष्णीषभूषिताः ।
गोपाः समाययू राजन् नानोपायनपाणयः ।। भा० म० पु० , पृ० 487

षष्ठ अध्याय

(श्री मद् भागवत में वर्णित समाज की आर्थिक व्यवस्था)

षष्ठ अध्याय

॥ श्रीमद्भागवत में वर्णित समाज की आर्थिक व्यवस्था ॥

1· जीविकोपार्जन के साधन

2· खानपान

3· वेशभूषा

4· आभूषण

5· मनोरंजन

छठवाँ अध्याय

॥श्रीमद् भागवत में वर्णित समाज की आर्थिक व्यवस्था ॥

जीवकोपार्जन के साधन :-

पूर्वकाल से ही यह अवधारणा दिखाई देती है कि चल और अचल सम्पत्ति का विभाजन पृथक्-पृथक् था । अचल सम्पत्ति में तब एक मात्र भूमि ही गण्य थी और उसका महत्त्व भी कम मात्रा में नहीं था । भूमि क्षेत्र के रूप में बाँटी जाती थी और समय-समय पर उसमें बीज वपन होता था । जो भूमि कृषि योग्य थी, उसे खिल्य के नाम से जाना जाता था [1] । हल से कर्षित की जाने वाली भूमि उर्वरा कहलाती थी और इसके कर्षण में छह,आठ,बारह तक बैल योजित होते थे [2] ।

अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में पृथिवी की महत्ता में यह कहा गया है कि यह भूमि समुद्र,नदियों और जल से सम्पन्न है । इसमें कृषि करने से अन्न उत्पन्न होता है । यह पृथिवी हमें गो से तथा अन्न से परिपूर्ण करे[3] ।

इस वर्णन के साथ ही,जिसमें अन्न की प्राप्ति की प्रार्थना है और जिससे ज्ञात होता है कि अन्न एक महत्त्वपूर्ण द्रव्य के रूप में मान्य था ।

1· ऋक् 10/33/6 , 1/110/5

2· वही 8/6/48

3· यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टय: संबभूवु: ।

यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमि: पूर्वपेये दधातु ।।

× × × × ×

या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ।। अथर्व ॥2॥

यह भी संकेत मिलता है कि यह अन्य प्रकार के धनों को भी धारण करती है,अपने वक्ष में सुवर्ण को धारण करती है । इस ऐसी पृथिवी से ऋषि प्रार्थना करता हुआ मणियों और सुवर्णादि धातुओं की याचना करता है[1] ।

जीविका के अन्य साधनों में आखेट करने का भी संकेत मिलता है । तब वाण,जाल,पाश के द्वारा शिकार करने का उल्लेख है । वराह का शिकार कुत्तों से किया जाता था और जंगली भैंसे का शिकार फेंके जाने वाले कमन्द से होता था । सिंह के शिकार करने के सन्दर्भ भी प्राप्त हैं[2] ।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में शिल्प कार्य कर अपनी जीविका चलाने की बात भी देखी गई है । तक्षकार अर्थात् बढई सभी शिल्प का काम करने वालों में अग्रगामी था । जो धातु का काम करते थे वे कर्मार कहे जाते थे । लोहे के बर्तन बनाने वाला अयोहत और सोने के आभूषण बनाने वाला हिरण्यकार भी तब थे[3] ।

1· निधि विभ्रति बहुधा गुहावसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे । वही,पृ0 64।

2· ऋक् 2/42/2 , 10/51/6 , 5/15/3

x x x

परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येन पदं नय ।
मृग: स मृगयुस्त्वं न त्वां निकर्तुमर्हसि ।।

x x x

यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिता इव । अथर्व 0§1§,पृ0 516-517

3· ऋक् 9/112/1,9/1/2, 1/122/2

इसी तरह से यत्किंचित् रूप में व्यापार करने की बात भी कहीं-कहीं कही गई है। जैसे एक स्थान पर दस गायों को देकर इन्द्र की प्रतिमा का क्रय करने का उल्लेख है। इसी तरह से एक जगह पर यह संकेत है कि मूल्य कम हो या अधिक बिक्री के समय जो तय हो उसे ही दक्ष विक्रेता और क्रेता को मानना चाहिए[1]।

उपनिषद् कालिक अर्थव्यवस्था का स्वरूप कुछ अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। यम जब नचिकेता से प्रश्न पूछता है तो उसे सन्तुष्ट करने के लिए वह सुवर्ण, भूमण्डल, धन और स्थायी आजीविका प्रदान करने का आश्वासन देता है। तब के समय में गौ, अश्व, स्वर्ण, दास, क्षेत्र तथा गृह को महिमा मण्डित किया गया है[2]। किन्तु तात्कालिक व्यवस्था का वैशिष्ट्य यह था कि तब यह कामना की जाती थी कि जो भी हमें प्राप्त हो, वह सुपथ पर चलकर ही प्राप्त होवे। यही कारण है कि तबऋषि अग्नि की प्रार्थना करता हुआ कहता है कि हे अग्नि। तुम हमारे लिए सुपथ से "रयि" अर्थात् सम्पत्ति की व्यवस्था करो, जिससे हम अपने कर्म का भोग सुपथ से कर सकें[3]।

---

1. कइमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः। ऋक् 4/24/10, 4/24/9
2. गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति। ई० द्वा०उ०, पृ० 242
3. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम। वही, पृ० 5

प्राचीन सामाजिक संरचना कृषि पर आधारित थी- यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। कृषि से प्राप्त होने वाला अन्न इसी हेतु से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण था। इसी कारण से अन्न का महत्त्व व्यक्त करते हुए यह कहा गया है कि अन्न से ही स्थावर-जंगम रूप प्रजा उत्पन्न होती है। जो कोई प्रजा है वह पृथिवी के आश्रित है और उत्पत्ति के अनन्तर अन्न से ही जीवित रहती है[1]।

इसके अतिरिक्त उपनिषद् काल में जीविका के साधनों में पशु पालन, वस्त्रोद्योग तथा इतर व्यापारिक कार्यों की चर्चा है[2]।

पौराणिक सन्दर्भ में भी अर्थ की स्थिति पर विचार किया गया है जिसमें कहा गया है कि यह अर्थ बुद्धि के कौशल से प्राप्त होता है। इस बुद्धि कौशल में धर्म का भी पर्याप्त आधार होता है। यद्यपि इसके महत्त्व के साथ ही इसके दोष भी हैं। वे दोष राजा के साम्राज्य के सम्बन्ध में गिनाए गए हैं[3]।

1· अन्नाद् वैप्रजा: जायन्ते। या: काश्च पृथिवीं श्रिता:। अथो अन्नेनैव जीवन्ति
वही, पृ0 85

2· बृ0 उ0 4/4/5, कठ 1/3/14, छा0 उ0 6/1/6

3· योगं क्रियोन्नतिर्दर्पमर्थं बुद्धिर सूयत।
मेधा स्मृतिं तितिक्षा तु क्षेमं ह्री प्रश्रयं सुतम्॥
भा0 म0 पु0 4/1/51

राजा के सन्दर्भ में अर्थ के दो प्रकार के दूषणों को कहा गया है । एक अर्थ का दोष और दूसरा अर्थ सम्बन्धी दोष । अपने दुर्ग के परकोटों का तथा मूल दुर्ग आदि की अपेक्षा और अस्त व्यस्तता में अर्थ दोष कहे गए हैं । इसी प्रकार कुदेश और कुसमय में कुपात्र को दिया गया दान,अर्थ सम्बन्धी दोष है[1] ।

यह अर्थ अथवा सफलता हर स्थिति में पुरुषार्थ पर ही अपेक्षित है, ऐसा भी पुराणकार स्वीकार करते हैं । इसके लिए वे कहते हैं कि जैसे कृषि और वृष्टि का संयोग होने पर फल की सिद्धि देखी जाती है किन्तु वह भी समय आने पर ही दिखाई पड़ती है, इसी तरह व्यक्ति को सदाचरण करते रहना चाहिए समय आने पर फल प्राप्त होगा ही [2] ।

श्री मद् भागवत पुराण में एक स्वस्थ आय के सम्बन्ध में यह दिखाई देता है कि सभी वर्ण अपने-अपने लिए निर्धारित कर्म करें और उन्हीं कर्मों से अपने लिए अर्थ का अर्जन करें । इस व्यवस्था में विप्र के लिए अध्ययन, अध्यापन कराना तथा दान लेना विहित था । वे अपने इन्हीं कर्मों से अपने लिए जीविका प्राप्त

---

1. अर्थस्य दूषणं राजा द्विप्रकारं विवर्जयेत् ।
   अर्थानां दूषणं चैकं तथार्थेषु च दूषणम् ।।
   प्राकाराणां समुच्छेदो दुर्गादीनामसत्क्रिया ।
   अर्थानां दूषणं प्रोक्तं विप्रकीर्णत्वमेव च ।।
   अदेशकाले यद्दानमपात्रे दानमेव च ।
   अर्थेषु दूषणं प्रोक्तमसत्कर्मप्रवर्तनम् ।। म0 पु0 {2} ,पृ0 884
2. कृषेर्वृष्टिसमायोगात् दृश्यन्ते फलसिद्धय: ।
   तास्तु काले प्रदृश्यन्ते नैवाकाले कथंचन ।।
   म0 पु0 {2} ,पृ0 888

कर लेते थे क्योंकि उन्हें अप्रतिग्राही बताया गया है । अपनी इसी अपरिग्राही भावना से वे अल्प अर्थोपलब्धि से भी अपना जीवन व्यतीत कर लेते थे । जो क्षत्री अर्थात् राज परिवार के होते थे वे प्रजा की रक्षा करने को अपना लक्ष्य बनाते थे । और इसी रूप में प्रजा से कर प्राप्त कर अपनी जीविका चलाते थे । इसके बाद के क्रम के वर्णों के लिए भी उनकी जीविका के संकेत दिए गए हैं और यह कहा गया है कि वैश्य अपने लिए निर्धारित वार्ता अर्थात् कृषि और वाणिज्य को अपनायेगा और इसी से अपनी जीविका का निर्वाह करेगा । शूद्र शेष अन्य कार्य करेगा और विविध प्रकार के शिल्प से अपनी जीविका का संचालन करेगा । इस क्रम में वहाँ पर प्रथम - प्रथम जीविका के साधन को अपर जीविका के साधनों से श्रेष्ठ बताया गया है । इन वृत्तियों में उञ्छवृत्ति, ऋतवृत्ति, अयाचित वृत्ति, अमृत वृत्ति, वाणिज्य सत्यानृत वृत्ति तथा नीच सेवन को श्ववृत्ति कहा गया है [1] ।

---

1. विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः ।
   राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद् वा करादिभिः ।।
   वैश्यस्तु वार्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः ।
   शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत् ।।

   x x x x

   ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम् ।
   मृतं तु नित्ययाच्ञा स्यात् प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ।।
   सत्यानृतं तु वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीचसेवनम् ।

श्रीमद्भागवत पुराण का सामाजिक स्वरूप ऐसा है जिसमें श्री कृष्ण और उनकी वन लीला का प्रभाव ही प्रभावित करता है। यही कारण है कि चार वर्णों के लिए पूर्व से चली आ रही अर्थार्जन की उसी परम्परा का कथन बार-बार किया गया है जिसके अनुसार ब्राह्मण यज्ञादि के द्वारा, क्षत्रिय करादि ग्रहण के द्वारा ,वैश्य कृषि और वाणिज्य के द्वारा तथा शूद्र सेवा के द्वारा अपनी जीविका प्राप्त करें[1]। इससे इतर जो सन्दर्भ इस क्रम में दिए गये हैं उनमें यह कहा गया है कि दिव्य,भौम और अन्तरिक्ष सम्बन्धी जो द्रव्य हैं,वे सभी अच्युत निर्मित हैं और इनका सीमित उपभोग ही देहधारियों के लिए योग्य है। इसमें यह अवश्य है कि अपने उदर का पालन जितने में हो जाए, उतना ग्रहण करना ही प्राणी का धर्म है। उससे अधिक जो प्राप्त करता है और भोग करता है,वह चोर की तरह है और ऐसा व्यक्ति दण्ड के योग्य है[2]।

1· वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुव: ।
वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया ।।
कृषिवाणिज्यगोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्यते ।
वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयो निशम् ।। भा० म० पु०,पृ० 528

2· दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम् ।
तत् सर्वमुपभुञ्जान एतत् कुर्यात् स्वतो बुध: ।।
यावद् भ्रियेत् जठरं स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति । वही,पृ० 380

इस रूप में संकेत प्राप्त करने के बाद भी कृषि जीवन का आधार तब परम आधार था । जिसमें गोचारण की वृत्ति सम्भवतः मुख्य वृत्ति थी । गोपाल नाम का रहस्य भी यही है जिसमें श्री कृष्ण और गोप बाल गौओं का चारण करते हैं उसी से प्राप्त दुग्ध से उन सबकी जीविका चलती है । वे वन मे जाते हैं तो वहाँ से प्राप्त होने वाले फल -मूल का भी आनन्द पूर्वक उपभोग करते हैं[1] । कृषि का आधार तो प्रारम्भ से ही रहा है और वह निरन्तर बना भी रहेगा । श्रीमद्भागवत् पुराणकार तथा अन्य पुराण कार भी उसी को महत्त्व रीति से कहते हैं और उसी को महत्त्वपूर्ण जीविका का साधन कहा जाना चाहिए[2] ।

इस रूप में इस पुराण में जीविकोपार्जन के जो साधन दिखाई देते हैं उनमें सबसे पहले तो यही दृष्टिगत होता है कि चारों वर्णों के लिए जो निर्धारित था,उसी का व्यवहार कर सामाजिक अपनी जीविका चलाते थे । इसके साथ ही कृषि एक ऐसा साधन था जिस पर एक प्रकार से सम्पूर्ण जीवन आधारित था । गोपालन,कन्द ,मूल फलादि के द्वारा अपनी उदरपूर्ति भी तब बहुत लोगों के लिए जीविका का साधन थी ।

1· एवं वृन्दावनं श्रीमत् कृष्णः प्रीतमनाः पशून् ।
रेमे सञ्चारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः ।।

x x x x

फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च ।

x x x x

निर्विश्य भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशनः । भा० म० पु०,पृ० 51,52।

2· केदारेभ्यस्त्वपोगृह्णन् कर्षका दृढसेतुभिः ।

x x x x

बभौभूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः । भा० म० पु०,पृ०52।

खान-पान :-

भोजन,वस्त्र तथा आवास जीवन की तीन ऐसी आवश्यकताएँ हैं जिनको जीवन की मौलिक आवश्यकताएँ कहा जा सकता है[1]। यही कारण है कि किसी भी समय के सामाजिक स्वरूप का अध्ययन किया जाए,भोजन,वस्त्र और आवास के तत्कालीन स्वरूप के ज्ञान के बिना वह अध्ययन पूरा नहीं होगा। दूसरे रूप में यह भी कह सकते हैं कि भोजन, वस्त्र और आवास की समुचित स्थिति को जानकर हम उस समय के समाज के स्वरूप को बहुत कुछ अर्थों में जान सकते हैं।

इस सम्बन्ध में जहाँ तक आदिम काल का प्रश्न है, वह यही संकेत करता है कि तब सभ्यता का विकास नहीं हुआ था और व्यक्ति में केवल एक प्रवृत्ति थी कि वह येन-केन प्रकारेण अपनी क्षुधा शान्त करे। इस क्षुधा शान्ति के क्रम में वह न यह विचार करता था कि उसे क्या खाना चाहिए और क्या नहीं खाना चाहिए और न यह विचार करता था कि कैसे खाना चाहिए। कच्चा-पक्का आमिष- निरामिष सभी कुछ वह केवल खाता था और उदरपूर्ति पर प्रसन्न होता था। किन्तु जब उसका बौद्धिक विकास हुआ तो वह फल,अन्न तथा दूसरी सामग्री को भली प्रकार खाने लगा।

पशुधन की अधिकता होने से वेद यह संकेत करते हैं कि तब दूध और दधि का तथा घृत का भोजन में प्रमुख स्थान था[2]। यह सम्भवत: इसलिए था कि दुधारू पशु अधिक मात्रा में पाले जाते थे और दूध,दही तथा घृत प्रचुर मात्रा में

---

1. पू० ए०इ०,पृ० 17-18

2. ऋक् 1/107/3;1/134/6

उपलब्ध था । दूध में पकाया गया भात और दही से बनने वाला एक प्रकार का पनीर तब भोजन के रूप में लिया जाने लगा था । इसी प्रकार अन्न के भोजन में घी में बनाए जाने वाले मालपुए भी खाए जाने लगे थे । इसी प्रकार माँस,प्रयोग के भी संकेत हैं किन्तु गौ मांस का निषेध स्पष्ट रूप से किया गया है [1] ।

जहाँ तक पेय पदार्थ के सम्बन्ध में संकेत है तो वह यह है कि सुरा का प्रयोग तब इसलिए उचित नहीं माना जाता था, क्योंकि उसे पीकर लोग दुर्मद हो जाते थे और सभी समितियों में आपस में कलह कर बैठते थे [2] ।

सोम नामक पेय पदार्थ का संकेत अवश्य प्राप्त है जिसे पीने के लिए तैयार किया जाता था [3] । वैदिक काल के उत्तरार्ध में,जिसे हम उपनिषद् काल कह सकते हैं,अन्न की महत्ता प्रतिष्ठित करने में मुखर था । " अन्न" बहु कुर्वीत " के रूप में तब अन्न की प्रतिष्ठा भोजन के रूप में की जा चुकी थी । इसी के साथ आहार की शुद्धता का भी कथन किया जाने लगा था और यह कहा जाने लगा था कि आहार की शुद्धि से अन्त:करण की शुद्धि होती है । अन्त:करण की शुद्धि से निश्चल स्मृति और निश्चल स्मृति से सम्पूर्ण ग्रन्थियों की निवृत्ति होती है [4] । भोज्यान्न के रूप में तब तण्डुल,अपूप,ओदन,तिलोदन आदि का प्रचलन था [5] ।

1· ऋक् 6/48/18 ; 10/45/9 , 8/101/5-16

2· पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम् । वही,7/86/6,8/2/92

3· वही 1/93/6,9/99/8

4· कौ0 उ0 1/4, तै0 उ0 3/9/1

5· बृ0 उ0 3/14/3,3/1/1,6/4/14

श्रीमद् भागवत् पुराण में खान-पान कास्थान -स्थान पर संकेत किया गया है। इन संकेतों से ज्ञात होता है कि तब अन्न और फलादिकों का प्रयोग अधिकता से होने लगा था। भगवान् श्री कृष्ण जब गोप-ग्वालों के साथ गोचारण के लिए जाते हैं तो वे पर्वत की गुफाओं में बैठकर आनन्द का अनुभव करते हैं और वन में प्राप्त कन्द,मूल और फलों का आहार करते हैं। इसी के साथ वे अपने साथ घरों से जो दधि और ओदन लाए थे,उसे सभी के साथ मिल-बैठकर खाते हैं[1]।

इसी प्रकार से जब व्रजवासी इन्द्र के पूजन में प्रवृत्त थे तो भगवान् श्रीकृष्ण ने गिरिराज का पूजन करने के लिए उन्हें प्रेरित किया। इस अवसर पर श्रीकृष्ण ने व्रजवासियों से कहा कि वे सभी प्रकार के पक्वान्न बनाएँ। सूप बनाएँ,पायस अर्थात् खीर बनाएँ,पूए बनाएँ,शष्कुली बनाएँ। इन सभी भोज्यान्नों का निर्माण कर तब अपना पूजन सम्पन्न करें[2]। इसी प्रकार से द्विदल,मधु और तेल का प्रयोग भी तब होता था किन्तु इसे गरिष्ठान्न कहा गया है[3]।

---

1. क्वचिद् वनस्पतिक्रोडे गुहायां चाभिवर्षति।
निर्विश्य भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशन: ।।
दध्योदनं समानीतं शिलायां सलिलान्तिके।
सम्भोजनीयैर्बुभुजे गोपै: संकर्षणान्वित: ।। भा0म0 पु0,पृ0 521

2. तस्माद्गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मख: ।
यइन्द्रयाग सम्भारास्तैरयं साध्यतां मख: ।।
पच्यन्तां विविधा: पाका: सूपान्ता: पायसादय: ।
संयावापूपशष्कुल्य: सर्वदोहश्च गृह्यताम् ।। वही,पृ0 528

3. वही,पृ0 44

जहाँ तक श्रीमद् भागवत् में पीने के सम्बन्ध का प्रश्न है तो उसका भी उल्लेख यत्र-तत्र किया गया है । जैसे कि श्रीमद्भागवतकार हिरण्यकश्यप के राज्य का और उसके अमोघ शासन का वर्णन करते हुए मधुपान से मत्तता का उल्लेख करते हैं [1] ।

इसीप्रकार का एक सन्दर्भ यमलार्जुन का भी है जिसके सन्दर्भ में यह वृत्तान्त दिया गया है कि रुद्र के दो अनुचर धनद के आत्मज एक बार कैलाश के पास मन्दाकिनी में विहार करने के लिए गए और वहाँ उन्होंने मदमत्त करने वाली मदिरा का पान किया । इसी विहार की मत्तावस्था के कारण महर्षि नारद ने उन्हें श्राप दिया[2] । जब भगवान् कृष्ण परमधाम जाने के लिए उद्यत हुए तो सभी यदुवंशी भी प्रभास क्षेत्र में एकत्रित हुए और उन्होंने वहाँ पर मधुपान का महान् आयोजन किया । श्रीमद्भागवत्कार ने वहाँ पर यह कहा है कि मधुपान से मत्तता आती है और इससे बुद्धि का विभ्रम भी उत्पन्न होता है । मधुपान करने से और बुद्धि के विभ्रम से ही यदुवंश आपस में युद्धरत हुआ था और इसी तरह से उनका विनाश हुआ था[3] ।

1· तमङ्ग मत्तं मधुनोरुगन्धिना विवृत्तताम्राक्षमशेषधिष्ण्यपा: ।
उपासतोपायनपाणिभिर्विना त्रिभिस्तपोयोगबलौजसां पदम् ।। भा0 म0 पु0,पृ0356

2· रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा सुदृप्तौ धनदात्मजौ ।
कैलाशोपवने रम्ये मन्दाकिन्यां मदोत्कटौ ।।
वारुणीं मदिरां पीत्वा मदाघूर्णितलोचनौ ।
स्त्रीजनैरनुगायद्‌भिश्चरेतु: पुष्पिते वने ।।
x x x x

3· ततस्तस्मिन् महापानं पपुर्मैरेयकं मधु ।
दिष्टविभ्रंशितधियो यद्द्रवैर्भ्रश्यते मति: । भा0 म0 पु0,पृ0 497·726

वेशभूषा :-

प्राचीन समय में वेशभूषा के सम्बन्ध में जो संकेत मिलता है उसके अनुरूप वसन् वासस् तथा उत्तरीय की चर्चा है। ये वस्त्र प्राय: भेड़ की ऊन से बनाए जाते थे और इन्हें स्त्रियाँ तैयार करती थीं। गान्धार क्षेत्र की भेड़ें इसके लिए प्रसिद्ध कही गई हैं[1]। मुनियों के वस्त्रों के सन्दर्भ में जो कहा गया है तदनुरूप वे अजिन, जो सम्भवत: एक प्रकार का चर्म होता था, धारण करते थे [2]।

उपनिषद् परम्परा में रंग-विरंगे वस्त्रों के धारण करने का उल्लेख किया गया है। इन रंग-विरंगे वस्त्रों में रंगे हुए वस्त्रों, सफेद वस्त्रों का नाम दिया गया है[3]। इस सन्दर्भ में जो रंग प्राडवाविक का प्रयोग किया गया है वह संभवत: भेंड़ के सफेद रंग के ऊन के लिए कहा गया है। पाण्डव कोरा या रेशमी वस्त्र था[4]।

श्रीमद्भागवत महापुराण में क्षौम वस्त्र पहनने की चर्चा है। भगवान् श्री कृष्ण की माता कटि में क्षौम वस्त्र पहने हुए हैं और उसे सूत्र से आनद्ध किए हैं[5]। एक अन्य स्थान पर जब श्री बलदाऊ और श्री कृष्ण के स्वरूप का मनोहारी वर्णन किया जाता है तब यह संकेत है कि श्री बलदाऊ जी और कृष्ण सुन्दर पीताम्बर धारण किए हुए हैं। इसी के साथ वे स्नान कर, गन्धमाल्यादि धारण

---

1. ऋक् 1/34/1 ,1/26/17,4/22/2
2. मुनयो वातरशना: पिशंगा वसते मला। वही 10/136/2
3. बृ0 उप0 2/3/6
4. प्रा0 भा0 भू0, पृ0 13
5. क्षौमं वास: पृथकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धम्।
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पं च सुभ्रू:।। भा0 म0 पु0 ,पृ0 495

करते हैं तथा विरज वस्त्र धारण करते हैं[1]। इसी प्रकार से जब भी अक्रूर भगवान कृष्ण को लेकर जब जा रहे थे तो मार्ग में उन्होंने भगवान् का जो रूप देखा उसमें श्रीकृष्ण पीतकौशेय वस्त्र धारण किए हुए थे[2]।

श्रीमद्भागवत में अन्य अनेक स्थानों पर वस्त्रों के विषय में सन्दर्भ दिए गए हैं और वहाँ पर पीतवस्त्र, कौशेयवस्त्र और धवलवस्त्रों के धारण करने का संकेत है। चित्रकेतु नामक राजा जब नारद के उपदेश से भक्तिभाव धारण करता है तब वह धवल वस्त्र धारण किए हुए भगवान् का दर्शन करता है। इसी तरह से जब स्त्रियाँ पुंसवन व्रत का आरम्भ करती हैं तब स्नान करके शुक्ल वस्त्र धारण करती हैं[3]। इससे यह भी व्यञ्जित होता है कि श्वेत वस्त्र स्वच्छता और पवित्रता का द्योतन करते हैं। एक स्थान पर भगवान् के स्वरूप की शोभा का कथन करते हुए यह भी संकेत है कि भगवान् का रूप ऐसा है जैसे तप्त स्वर्ण का उद्दीप्त रूप हो। उस रूप में वे सुन्दर कौशेय वस्त्र धारण किए हुए हैं[4]। और इस रूप में श्रीमद्भागवत पुराण में धवलवस्त्र, कौशेयवस्त्र, क्षौमवस्त्र प्रयुक्त किए जाते हुए वर्णित हैं।

---

1. ददर्श कृष्णं रामं च व्रजे गोदोहनं गतौ।
   पीतनीलाम्बरधरौ शरदम्बुरुहेक्षणौ ॥
   उदाररुचिरक्रीडौ स्रग्विणौ वनमालिनौ।
   पुण्यगन्धानुलिप्ताङ्गौ स्नातौ विरजवाससौ ॥ भा० म० पु०, पृ० 551
2. तस्योत्सङ्गे घनश्यामं पीतकौशेयवाससम्।
   पुरुषं चतुर्भुजं शान्तं पद्मपत्रारुणेक्षणम् ॥ वही, पृ० 554
3. वही, पृ० 339, 347
4. तप्त हेमावदातेन लसत्कौशेयवाससा। वही, पृ० 396

आभूषण धारण करने की परम्परा भी प्राचीन समय से ही भारतीय साहित्य में वर्णित है। वैदिक सन्दर्भ इस विषय में जो संकेत देते हैं उनके अनुसार तब स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषण धारण करते थे। वे कानों में कर्णभूषण पहनते थे जिन्हें कर्णशोभन कहा गया है। गले में निष्क नामक आभूषण धारण करते थे और हाथ तथा पैरों में कड़े और खड़ुए पहनने की परम्परा थी। गले में मणियों का माला पहना जाता था जिसे मणिग्रीव के नाम से कहा गया है[1]।

उपनिषद् में निष्क शब्द आभूषण के अर्थ में प्रयुक्त है। जैसे एक स्थान पर कहा गया है कि जानश्रुति राजा जब रैक्व के पास गए तो वे अपने साथ छह सौ गौएँ, एक निष्क तथा एक रथ लेकर गए[2]। इसी तरह दूसरे स्थान पर यह कहा गया है कि अश्वपति ने पौलुषि से कहा था कि तुम वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हो, इसलिए तुम्हारे कुल में बहुत सा लौकिक और पारलौकिक धन है। निष्कधारण किये हुए दासियाँ भी इसीलिए तुम्हारे पास हैं[3]। जो भी वैश्वानर की उपासना इस प्रकार से करता है उसे यह सब प्राप्त होता है।

---

1. ऋक् 8/78/3; 1/33/10; 1/166/7; 5/54/11; 1/122/14; 8/47/15
2. तमु हपर: प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति तद्ध ह पुनरेव जानश्रुति: पौत्रायण: सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे। ई0 द्वा0 उ0, पृ0 171
3. प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽस्त्यन्नं पश्यसि प्रियमत्यन्नं पश्यति प्रियं ....यन्मां नागमिष्य इति। वही, पृ0 202

श्रीमद् भागवत महापुराण में विविध प्रकार के आभूषण धारण किए जाने का उल्लेख है । समुद्र मन्थन जब देवों और दानवों ने किया तो उससे चौदह रत्न प्रकट हुए । सर्व प्रथम तो कौस्तुभ नाम की मणि निकली जो भगवान के वक्षस्थल में शोभित हुई । इसी तरह से विविध प्रकार के आभूषण धारण किए हुए विश्वकर्मा का प्राकट्य हुआ । तत्पश्चात् हार, कुण्डल भी समुद्र मन्थन से प्राप्त हुए[1] । समुद्र मन्थन के इसी क्रम में जब परम पुरुष प्रकट हुआ तो वह सभी प्रकार से आभूषणों से सुसज्जित था । कानों में सुन्दर मणिकुण्डल धारण किए हुए था । पूर्ण अमृत का कलश लिए हुए था और उसके हाथों में वलय अर्थात् कंकण शोभायमान थे । अमृत कलश से अमृतपान के लिए उत्कण्ठित दैत्यों को रिझाने के लिए जब भगवान् ने कामिनी का रूप धारण किया तो उन्होंने कर्णभूषण धारण किए, गले में कण्ठा धारण किया तथा भुजाओं में अंगद धारण किया । उनके सुन्दर चरणों में नूपुरों की शोभा दिव्य थी[2] ।

---

1. कौस्तुभाख्यमभूद् रत्नं पद्मरागो महोदधेः ।
   तस्मिन् हरिः स्पृहाञ्चक्रे वक्षोऽलंकरणे मणौ ।।
   x x x x x
   भूषणानि विचित्राणि विश्वकर्मा प्रजापतिः ।
   हारं सरस्वती पद्मजो नागाश्च कुण्डले ।। भा० म० पु० , पृ० 401
2. कौस्तुभाख्यमभूद् रत्नं पद्मरागो महोदधेः ।
   तस्मिन् हरिः स्पृहाञ्चक्रे वक्षोऽलंकरणे मणौ ।।
   x x x x x
   भूषणानि विचित्राणि विश्वकर्मा प्रजापतिः ।
   हारं सरस्वती पद्मजो नागाश्च कुण्डले ।।
   x x x x x
   समान कर्णाभरणम्...........
   .... वलच्चरणनूपुरम् ।। भा० म० पु० , पृ० 401, 403

माँ यशोदा का जब दधिमन्थन करते हुए चित्रण जब भी श्रीमद् भागवत्-कार करते हैं तो वे यह वर्णन करते हैं कि उनके कानों में कुण्डल शोभित हो रहे हैं और हाथों में कंकणों की झनकार है[1] । इसी प्रकार से एक अन्य स्थान पर बलराम द्वारा प्रलम्बासुर के वध के समय जिन आभूषणों का संकेत किया गया है वे हैं - करक, किरीट तथा कुण्डल [2] ।

भगवान् श्रीकृष्ण और गोपियों का जब रास हुआ तो उस समय गोपियों के वलयों से नूपुरों से तथा उनकी किंकिणियों से वातावरण अत्यधिक ध्वनित ध्वनित हुआ। उन्होंने कुण्डल भी धारण किए हुए थे और नूपुर तथा मेखला भी पहनी हुई थी[3] ।

भगवान् श्रीकृष्ण जब अक्रूर को अपना विश्वरूप दिखाते हैं तो वे किरीट, करक, अंगद, हार, नूपुर और कुण्डल धारण किए हुए हैं तथा हृदय में कौस्तुभ मणि धारण किए हुए थे [4] । इस रूप में वे सभी आभूषण तब धारण किए जाते थे जिनका प्रचलन पूर्व परम्परा में रहा था । किरीट, नूपुर, मेखलादि कुछ नए आभूषण भी प्रचलित हो गये थे ।

1· रज्जाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च ।
स्विन्नं वक्त्रं कबरीविगलन्मालती निर्ममन्थ ।। भा० म० पु० ,पृ० 495

2· निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरत् प्रदीप्तदृग् भ्रुकुटितटोग्रदंष्ट्रकम् ।
ज्वलच्छिखं कटककिरीटकुण्डलत्विषाद्भुतं ईषदत्रसत् ।। वही, पृ० 518

3· वलयानां नूपुराणां किंकिणीनां च योषिताम् ।
x x x x x
भज्यन्मध्यैश्चलत्कुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।।
x x x x x
नृत्यन्ती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला ।। वही, पृ० 541

4· सुमहार्हमणिव्रातकिरीटकटकांगदैः ।

मनोरंजन § नृत्य- गायनादि §:-

मनुष्य की वृत्ति आमोद-प्रमोद वाली होती है । प्रत्येक व्यक्ति की यह सहज आकांक्षा होती है कि वह अपने दैनिक कार्यों से श्रान्त होने के पश्चात् कुछ क्षण ऐसे निकाल सके जिनमें उसका मन श्रम का परिहार कर सके तथा मन में प्रफुल्लता आवे । इसी भाव के अनुरूप प्राचीन समय से ही आमोद-प्रमोद के विविध साधन अपनाए जाते थे । जैसे कि वेद काल में रथ दौड़, घोड़ा -दौड़ का प्रचलन था । इसी प्रकार जुए में पासे का खेल होता था और खेलने वाले हार-जीत का दाँव लगाते थे । यद्यपि पासों से खेलना और हार-जीत के लिए अपनी सम्पत्ति को दाँव पर लगाना ठीक नहीं माना जाता था । और इसके लिए पिता अपने पुत्र को वर्जित करता था[1] ।

इसी प्रकार से तब विविध वाद्यों का प्रयोग करना भी प्रारम्भ कर दिया गया था और अनेक लोग वाद्यों का बजाकर अपना मनोंरजन करते थे । इन वाद्यों में स्त्री और पुरुष दोनों ही समान रूप से रुचि लेते थे और दोनों का ही इनसे मनोरंजन होता था । उस समय के वाद्यों के तीन प्रकार का उल्लेख समालोचकों ने किया है । जैसे एक प्रकार के वाद्य वे थे जो अवनद्ध कहे जाते थे और जिनमें दुन्दुभि आदि की गणना थी[2] । दूसरे प्रकार के वे वाद्य थे जिन्हें तन्तुवाद्य कहते थे और जिनमें कर्कीर का नाम आता है । इसी प्रकार से तीसरे वीणादि वाद्य थे जो सप्त स्वरों की पहचान से बजाए जाते थे[3] ।

---

1. हि० स०, पृ० 96
2. ऋक् 2/29/5
3. हि० स०, पृ० 96

इसी, प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण जब गोचारण के लिए वन में विचरण करते हैं तब अपने सभी साथियों के साथ पुष्प के पराग से मदमत्त भंवरों के गुंजरण के साथ गायन करने लगते हैं, कभी-कभी जब कलहंस वन की शोभा से मद-मत्त होकर कूजन करने लगते हैं तो सभी उनका अनुकरण करके गीतरूप कूजन से सम्मिलित हो जाते हैं। इसी प्रकार से जब मयूर सुन्दर ध्वनि करके अपने पंख फैलाकर नृत्य करते हैं तो उन्हें देखकर श्रीकृष्ण तथा उनके सखा नृत्य में विभोर हो जाते हैं[1]।

इसी तरह जब श्रीकृष्ण ने बृजवासियों को दावाग्नि से मुक्त किया तब भी सभी जन एकत्रित होकर गायन, वादन और नृत्य से अपने आनन्द को व्यक्त करने लगते थे। श्रीकृष्ण को दावाग्नि से मुक्त देखकर सभी ने उन्हें घेर लिया और सभी परस्पर एक-दूसरे का अनुकरण करते हुए गायन करने लगे। ऐसी ऋतु वृन्दावन में उपस्थित हुई जब वन में पुष्प पुष्पित हुए, मयूरों ने समूह बद्ध होकर गायन और नर्तन किया। कोयल अपनी कल-कल ध्वनि से कूजने लगी। तब ऐसी रम्य स्थिति में भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके अग्रज बलदाऊ में भी प्रसन्नता जाग उठी और वे दोनों सभी गोपी-ग्वालों के साथ वेणु वादन कर प्रसन्नता व्यक्त

---

1. एवं वृन्दावनं श्रीमत् कृष्ण: प्रीतमना: पशून् ।
रेमे संचारयन्नद्रे: सरिद्रोधस्सु सानुग: ।।
क्वचिद् गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतै: ।
उपगीयमानचरित: स्रग्वी संकर्षणान्वित: ।
क्वचिच्च कल हंसानामनुकूजति कूजितम् ।
अभिनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन् क्वचित् ।। भा0 म0 पु0, पृ0 5।।

करने लगे । इसी प्रकार से प्रवाल बर्ह, स्तवक, माला तथा धातु के आभूषण धारण किए हुए बलराम तथा श्रीकृष्ण के साथ गोप-गोपियाँ नृत्य करने लगे । श्रीकृष्ण के नृत्य करते ही कोई नृत्य करने लगा और कोई वादन बजाने लगा[1] ।

रासलीला के अवसर पर गोपियाँ प्रेम विह्वल कण्ठ से गीत गाती थीं और साथ-साथ नृत्य भी करती थीं । वे भगवान् श्रीकृष्ण के पार्श्व में खड़े होकर श्रान्त होती हुई नृत्य और गायन में लीन हो जाती थीं [2] ।

इस रूप में इस महापुराण में नृत्य, गायन, वादन के अपूर्व प्रयोग से आनन्द और मनोरंजन का भरपूर साक्ष्य देखने को मिलता है ।

---

1. वनं कुसुमितं श्रीमन्नदीचित्रमृगद्विजम् ।
   गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम् ।।
   x x x x
   प्रबालबर्हस्तबकस्रग्धातुकृतभूषणाः ।
   रामकृष्णादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः ।।
   कृष्णस्य नृत्यतः केचिज्जगुः केचिद् वादयन् ।
   वेणुपाणितलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापरे ।।
   x x x x
   क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम् ।
   शशंसतुर्महाराज साधु साध्विति वादिनौ ।। भा० पु०, पृ० 518
2. उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः ।
   कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ।।
   x x x x
   नृत्यन्ती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला ।
   पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम् ।।
   भा० म० पु० , पृ० 541

उपनिषद्काल में मनोरंजन के क्रममें द्यूत खेलने का संकेत मिलता है तथापि वहाँ पर स्पष्टत: के साथ इसकी व्याख्या नहीं की जा सकी[1] । गायन,वादन और नृत्य के द्वारा मनोरंजन किए जाने के अनेकों संकेत आलोच्य तब के समय में मिलते हैं । जैसे कि एक स्थान पर कहा गया है कि यज्ञ में जाकर प्रस्तोतागण गायनकरके ही स्तुतिगान करते थे[2] । इसी तरह से एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि यदि प्राणी गीतवाद्य सम्बन्धी लोक को चाहता है तो उसके संकल्प से ही वह उपस्थित हो जाता है[3] । इस उद्धरण में गीत और वादन का संकेत किया गया है ।

श्रीमद्भागवत् महापुराण में गीत,वादन तथा नृत्य के द्वारा मनोरंजन किए जाने के अनेकों सन्दर्भ हैं जिनमें तत्कालीन समाज में उत्सव के रूप में गीत,वादन और नृत्य का आयोजन किया जाता था ।

उदाहरण के लिए जब समुद्र मन्थन हुआ और उससे चौदह रत्न निकले तब उन रत्नों को देखकर तथा विशेष रूप से लक्ष्मी को प्राप्त कर सभी ने प्रसन्नता पूर्वक नृत्य किया तथा शंख,तूर्य,मृदङ्ग आदि वाद्यों का विशेष रूप से वादन किया[4]

---

1. उ०स०सं०,पृ० 73

2. तत्रोद्गातृनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेशसह प्रस्तोतारमुवाच ।
ई०द्वा०उ०,पृ० 127

3. अथ यदि गीतवादित लोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीत वादिते समुतिष्ठ-
स्तेन गीतवादितलोकेन संपन्नो महीयते । छा० उ० 8/10/8

4. शंखतूर्यमृदंगानां वादित्राणां पृथु: स्वन: ।
देवानुगानां सस्त्रीणां नृत्यतां गायतामभूत् ।। भा० म० पु०,पृ० 402

सप्तम् अध्याय
(आलोच्य पुराण में वर्णित नैतिक मूल्य एवं वर्जनाएँ)

सप्तम अध्याय

(आलोच्य पुराण में वर्णित नैतिक मूल्य एवं वर्जनाएँ)

1. नैतिक मूल्य :-

सत्य, अहिंसा, सदाचार, विवेक, धर्म, क्षमा

2. वर्जनाएँ :-

बालहत्या, चीरहरण, वेणुगीत, इन्द्रमखभंग

3. रासलीला का सामाजिक स्वरूप

4. समीक्षा तथा निष्कर्ष

सप्तम अध्याय

(आलोच्य पुराण में वर्णित नैतिक मूल्य एवं वर्जनाएँ)

नैतिकमूल्य :-

(1) सत्य :-

महर्षि पतञ्जलि ने यम-नियम-आसनादि के रूप में योग के अष्टाङ्गों की चर्चा की। ये अष्टाङ्ग व्यक्ति योगी के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। वहाँ पर इसका प्रथम अंग यम है जिसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की गणना की गई है[1]। इस रूप में जब सत्य का विवेचन होता है तो वह व्यक्ति के द्वारा मन से पालन करने वाला एक ऐसा गुण दिखाई देता है जो व्यक्ति का श्रेष्ठ गुण है।

सत्य के सम्बन्ध में और जो सब्ज में विचारकों ने कहा है तदनुरूप वस्तु का यथार्थ ज्ञान ही सत्य है। शरीर से जिसका पालन हो, वह शरीर सत्य, वाणी से जिसका पालन हो, वह वाणी सत्य और मन से जिसका पालन हो, वह मन का सत्य है[2]।

महर्षि मनु ने सत्य का उल्लेख किया है और यह लिखा है कि सत्य धर्म का एक अंग है। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धीरता, विद्या, सत्य, अक्रोध-ये दस धर्म के लक्षण हैं[3]। इन दस लक्षणों में से सत्य भी धर्म का एक लक्षण है। इसके प्रयोग के सन्दर्भ में महाराज मनु ने कहा है कि सत्य बोलो और प्रिय बोलो। किन्तु जो अप्रिय सत्य हो, उसे मत बोलो[4]।

---

1. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। पा० यो० प्र०, पृ० 379
2. वही, पृ० 38।
3. धृतिः क्षमादयोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
   धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। म० स्मृ०, पृ० 239
4. सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।

श्रीमद् भागवत् पुराण में भी श्री उद्धव ने भगवान् श्रीकृष्ण से पूँछा था कि यम कितने प्रकार का है। शम, दम और तितिक्षा का क्या स्वरूप है[+]। तब भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा था कि उद्धव ! अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि यम हैं, और इसी प्रकार से जब उद्धव ने यह प्रश्न किया था कि सत्य का स्वरूप क्या है और सत्य किसे कहते हैं तब भगवान् ने कहा था कि "समदर्शन" सत्य है। अर्थात् सभी को समान रूप से देखना सत्य का व्यवहार है[1]।

इसी प्रकार से जब ब्रह्म प्रकृति का वर्णन किया गया है तो कहा गया है कि शम, दम, तप, शौच, संतोष, शान्ति, आर्जव, भगवद् भक्ति, दया और सत्य आदि ब्रह्म"प्रकृतियाँ हैं[2]। इसी दृष्टि से मनुष्य तथा महान् आत्माओं का जीवन चरित भी निरूपित किया गया है जो गृह-त्याग कर श्रेयस्कर आश्रम का आश्रय लेते हैं। उनके लिए अन्य क्रियाओं का विधान करते हुए भी साथ में यह कहा गया है कि सत्य से युक्त वाणी का प्रयोग करें और मन से पवित्र होकर अपना आचरण करें[3]।

1· यम: कति विध: प्रोक्तो नियमो वारिकर्शन: ।

x x x x x

अहिंसासत्यमस्तेयमसंगो ह्रीरसंचय: ।

x x x x x

स्वभाव विजय: शौर्यं सत्यं च समदर्शनम् ।। भा0म0 पु0, पृ0 704,705

2· शमोदमस्तप: शौचं सन्तोष: क्षान्तिरार्जवम् ।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमा: ।।

3· बिभृयाच्चेन्मुनिर्वास: कौपीनाच्छादनं परम् ।
त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत् किंचिदनापदि ।।
दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् ।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मन:पूतं समाचरेत् । वही, पृ0 702

सत्यपालन के सम्बन्ध में यद्यपि अनेक कथानक श्रीमद्भागवत में प्राप्त हैं तथापि अपने प्रति होने वाले छल को जानकर भी बलि जिस तरह सत्य का पालन करता है, वह विशिष्ट है। श्री भगवान् वामन जब बलि के राज दरबार में पहुँचते हैं तो वे पहले बलि की प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि तुम्हारे पिता प्रह्लाद के पुत्र थे। वे इतने विद्वान्, दानी और द्विजवत्सल थे कि जो भी उनके यहाँ याचना के लिए जाता था, उसे वे कभी निराश नहीं करते थे। इसलिए मैं तुम्हारे द्वार पर आया हूँ और तुमसे तीन पग भूमि की याचना करता हूँ[1]। बलि इसके लिए न केवल तत्पर हुआ अपितु उसने कहा कि यह तो अत्यल्प याचना है। मेरे यहाँ जिसने याचना की, उसे अन्यत्र कहीं याचना करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु भगवान् के द्वारा याचित पृथिवी की कामना करने पर दैत्येन्द्र ने कहा कि ठीक है, जो तुम्हारी इच्छा है उसके अनुरूप भूमि ले लो। दैत्येन्द्र के द्वारा इस प्रकार दान करते हुए असुराचार्य शुक्राचार्य ने भगवान् का अभिमत जान लिया[2]।

---

1. पिता प्रह्लादपुत्रस्ते तद्विद्वान् द्विजवत्सलः ।
स्वमायुर्द्विजलिङ्गेभ्यो देवेभ्योऽदात् सयाचितः ॥

× × × ×

तस्मात् त्वत्तो महीमीषद् वृणेऽहं वरदर्षभात् ।
पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र संमितानि पदा मम । भा० म० पु० , पृ० 422

2. इत्युक्तः स हसन्नाह वाञ्छतः प्रतिगृह्यताम् ।
वामनाय महीं दातुं जग्राह जलभाजनम् ॥
विष्णवे क्षमां प्रदास्यन्तमुशना असुरेश्वरम् ।
जानंश्चिकीर्षितं विष्णोः शिष्यं प्राह विदांवरः ॥ वही, 422

आचार्येश्वर ने कहा, राजन्! यह साक्षात् ईश्वर हैं। यह इसलिए यहाँ पर उपस्थित हुए हैं क्योंकि इन्हें देवताओं का कार्य सिद्ध करना है ये जब अपना स्वरूप विस्तृत करेंगे तो अपने एक पद से भूमि का मापन कर लेंगे, द्वितीय पद से आकाश का मापन करेंगे, तब भला तृतीय पद की क्या स्थिति होगी? उस दान की प्रशंसा भी नहीं की जा सकती, जिससे स्वयं की जीविका आपत्ति में पड़ जावे। तुम अपनी वाणी से सत्य के पालन का जो व्यवहार करना चाहते हो, वह सत्य आत्मा रूपी वृक्ष का फल है। अत, यदि आत्मा रूपी वृक्ष ही नष्ट हो जावेगा तो फिर फल की कल्पना कैसे हो सकती है[1]?

किन्तु बलि ने सत्य का प्रयोग करते हुए आचार्य के इस आदेश का पालन नहीं किया और कहा कि भगवन्! असत्य से बढ़कर और कोई अधर्म नहीं है। इसलिए मैं सबकुछ सहन कर सकता हूँ किन्तु असत्य को सहन करना मेरे लिए सम्भव नहीं है[1]। और इस प्रकार अपने आचार्य का शाप धारण करके भी उसने सत्य का पालन किया।

---

1. एष वैरोचने साक्षात् भगवान् विष्णुरव्ययः ।
   कश्यपाददितेर्जातो देवानां कार्यसाधकः ॥
   × × × ×
   क्रमतो गां पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभोः ।
   खं च कायेन महता तार्तीयस्य कुतो गतिः ॥
   × × × ×
   सत्यं पुष्पफलं विद्यादात्मवृक्षस्य गीयते ।
   वृक्षे जीवति तन्न स्यादनृतं मूलमात्मनः ॥
   स चाह वित्तलोभेन प्रत्याचक्षे कथं द्विजम् ।
   प्रतिश्रुत्य ददामीति प्राह्लादिः कितवो यथा ॥
   न ह्यसत्यात् परो धर्म इति होवाच भूरियम् ।
   सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋते लीकपरं नरम् ॥ भा० म० पु०, पृ० 422-423

अहिंसा :-

पातञ्जलयोग सूत्र में "यम" के परिचय में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है। एक विद्वान् व्याख्याकार ने यहाँ पर यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि शरीर, वाणी अथवा मन से काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि की मनोवृत्तियों के साथ किसी प्राणी को शारीरिक, मानसिक पीडा पहुँचाना हिंसा है और इससे बचना अहिंसा है। इसी दृष्टि से सम्भवत: आचार्य कहते हैं कि जब उस अहिंसा में प्राणी की प्रतिष्ठा हो जाती है तो उसका सभी प्राणियों से वैर छूट जाता है[1]।

श्रीमद्भागवत् पुराण में भी अहिंसा का कथन किया गया है। इसके सप्तम स्कन्ध में जब श्री युधिष्ठिर नारद ऋषि से मनुष्यों के धर्म की जिज्ञासा करते हैं तब नारद जी धर्म के विस्तार में सत्य, दया, तप, शौच के साथ अहिंसा का भी कथन करते हैं[2]। एक अन्य स्थान पर उद्धव और श्री भगवान् का सम्वाद भी दिया गया है। वहाँ पर श्री उद्धव भगवान् से अनेक प्रकार के प्रश्न करते हैं जिसमें वे पूँछते हैं कि यम कितने प्रकार का है, नियम का स्वरूप क्या है, शम, दम, तितिक्षा आदि का क्या रूप है। इसके उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण यम का स्वरूप बतलाते हैं और उसमें अहिंसा का प्रथम कथन करते हैं[3]। जिस प्रकार योगदर्शन में किया गया है।

1· पा० यो० प्र०, पृ० 380, 426

2· सत्यं दया तप: शौचं तितिक्षेक्षा शमोदम: ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्याग: स्वाध्याय आर्जवम् ।। भा० म० पु०, पृ० 376

3· अहिंसासत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचय: ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ।। वही, पृ० 704

सदाचार:-

व्यक्ति के आचरण के सद्रूप में अभिव्यक्ति देने वाले इस व्यवहार के लिए तो श्रीमद्भागवत में अनेक अध्याय ही कहे गए हैं। इनमें व्यक्ति के लिए जो कहा गया है, वह तो वर्णित है ही, वर्ण और आश्रमधारियों के लिए जो करणीय है, उसका भी विस्तार से कथन किया गया है। यही सभी व्यक्ति का सद् आचरण माना गया है और इसे ही सदाचार का नाम दिया गया है।

महर्षि नारद ने महाराज युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहा कि सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय और ऋजुता ऐसे आचरण हैं जो मनुष्य के लिए आचरणीय हैं। इसी प्रकार से सन्तोष, सम्यक् सेवा, विपरीत इच्छा का परिष्कार मौन रहना तथा अपने आप के जीवन पर सदा विचार करते रहना भी व्यक्ति के सदाचरण हैं। व्यक्ति के लिए यह भी कहा गया है कि वह सभी प्राणियों के लिए अन्न आदि का समुचित वितरण करे और सभी प्राणियों के प्रति आत्मबुद्धि रखे तथा देवबुद्धि सहित व्यवहार करे[1]।

---

1. सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥ भा० म० पु०, पृ० 376

जब श्री उद्धव जी ने भगवान् श्री कृष्ण से पूँछा कि दान क्या है, तप क्या है, अमृत क्या है, यज्ञ क्या है, दीक्षा क्या है। पण्डित कौन है और मूर्ख कौन है, स्वर्ग क्या है और नर्क क्या है। धनवान् कौन है और दरिद्री कौन है, कृपण कौन है और उदार कौन है।[1]

तब श्री भगवान् कृष्ण ने इस सबके रूप में जो समाधान किया था, वह आचरण सदाचार के रूप में ही देखा जा सकता है। जैसे कि श्री भगवान् ने कहा कि जो मुझमें बुद्धि की एक निष्ठता है, वह शम है। इसी प्रकार जो इन्द्रियों की जयशीलता है, वह दम है। दु:ख सहन करना तितिक्षा है और जिह्वेन्द्रिय तथा उपस्थेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना धृति है। दण्डधारण करना परम दान है और काम का परम त्याग ही तपस्या है। स्वाभाविक रूप से विजय प्राप्त करना शौर्य है और समदर्शन ही सत्य है। सत्य वाणी को ही कवियों ने सूनृत वाणी कहा है। कर्म बन्धन से मुक्त होना शौच है और त्याग ही संन्यास है। धर्म को अपना इष्ट समझना ही धन है, यज्ञ ही भगवान् हैं।

---

1. किं दानं तप: शौर्यं किं सत्यमृतमुच्यते ।
   कस्त्याग: किं धनं चेष्टं को यज्ञ: का च दक्षिणा ।।
   पुंस: किंस्विद् बलं श्रीमन् भगो लाभश्च केशव ।
   का विद्या ह्री: परा का श्री: किं सुखं दु:खमेव च ।।
   क: पण्डित: कश्च मूर्ख: क: पन्था उत्पथश्च क: ।
   क: स्वर्गो नरक: क: स्वित् को बन्धुरुत किं गृहम् ।।
   क आढ्या को दरिद्रो वा कृपण: क: कईश्वर: ।
   एतान् प्रश्नान् ममब्रूहि विपरीतांश्च सतपते ।। भा० म० पु० ,पृ० 704

ज्ञान का संदेश दक्षिणा है तथा प्राणायाम परम बल है। मुझमें ईश्वर का भाव रखना भग अर्थात् ऐश्वर्य है, परमभक्ति का लाभ पाना ही उत्तम लाभ है। आत्मज्ञान विद्या है तथा निन्दनीय कर्मों के प्रति जुगुप्सा रखना जुगुप्सा है। इस मानवीय देह में अहं बुद्धि उत्पन्न होना मूर्खता है। सत्त्वगुणों का उदय होना स्वर्ग है। जो परम असंतोष है, वही दरिद्रता है, जो अजितेन्द्रियता है, वह कृपणता है[1]। इस रूप में जिन मानवीय गुणों का वर्णन किया गया है वे ऐसे सत् आचरण हैं जिनका पालन करने से व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन सदाचरण पूर्ण होता है। इसलिए ये सभी सदाचरण कहे गए हैं।

---

1. शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः ।
   तितिक्षा दुःखसम्मर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः ।
   दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम् ।
   स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम् ।।
   ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता ।
   कर्मस्वसङ्गमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते ।।
   धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः ।
   दक्षिणा ज्ञानसन्देशः प्राणायामः परं बलम् ।।
   भगो म ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः ।
   विद्यात्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु ।।

   x x x x

   मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगतः स्मृतः ।
   उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ।।

   x x x x

   दरिद्रो यस्त्वसंतुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः ।
   गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्ययः ।। भा० म० पु०, पृ० 705

इन्हीं सदाचरणों को वर्णों के लिए और आश्रमों के लिए भी कहा गया है। इनके लिए जो कहा गया है,उसमें यह निरूपण है कि विप्र अध्ययन,अध्यापन,क्षत्रिय राजवृत्ति,वैश्य व्यापार और कृषि तथा शूद्र सेवा वृत्ति से अपना जीवन यापन करें। इसी तरह से ब्रह्मचर्य,गृहस्थ,वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रमों के लिए भी सत् आचरणों का कथन किया गया है। इनमें से यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी गुरुकुल में निवास करता हुआ,आचार्य की सेवा इस प्रकार करे जिस प्रकार से कोई दास स्वामी की सेवा करता है। प्रात: और सांय वह भिक्षा की याचना करे और गुरु को उसे निवेदित करे। वह सुशील हो,मितभुक् हो, श्रद्धावान् हो, जितेन्द्रिय हो, जितना आवश्यक हो स्त्री-व्यवहार से दूर रहे। गृहस्थ,वानप्रस्थ,संन्यासाश्रम के लिए भी इसी तरह का व्यवहार करने का विधान किया गया है[1]।

1· विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रह: ।
राज्ञो वृत्ति: प्रजागोप्तुरविप्राद् वा करादिभि: ।।
वैश्यस्तु वार्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुग: ।
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत् ।

x x x x x

ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम् ।
आचरन् दासवन्नीचो गुरौ सुदृढसौहृद: ।।

x x x x x

एवंविधो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिर्गृही ।
चरन् विदित विज्ञान: परं ब्रह्माधिगच्छति ।। भा०म० पु०,पृ० 377

सदाचरण के क्रम में श्री भागवतकार ने स्त्री-व्यवहार की भी चर्चा की है और लिखा है कि स्त्री अपने पति के प्रति देवता का भाव रखकर उसकी शुश्रूषा से अनुकूलता पाने का प्रयत्न करे। वह साध्वी हो, सत्य वाक्यों का व्यवहार करे, संतुष्ट रहे, लोलुपता से दूर रहे, धर्मज्ञ हो, अप्रमत्त हो। इस तरह से जो हरिवत् निज पति को जानकर उसकी सेवा करती है, वह लक्ष्मी की तरह प्रसन्न रहती है[1]।

व्यक्ति की जीविका के विषय में यह कहा गया है कि क्षेत्र में गिरे हुए अन्न का संग्रह कर जीविका चलाना ऋतवृत्ति है। अयाचित अन्न से जीविका चलाना अमृत वृत्ति है। भिक्षा से चलने वाली वृत्ति मृत वृत्ति है, कृषि द्वारा चलने वाली वृत्ति प्रमृत वृत्ति है[2]। इन वृत्तियों से श्रेष्ठ- श्रेष्ठ वृत्ति का आचरण ही व्यक्ति को करना चाहिए। यही विधि जीविका संचालन में श्रेष्ठ है और यही सदाचरण की आधार है।

1· स्त्रीणां पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता ।
तद् बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद् व्रतधारणम् ।।
सम्मार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डलवर्तनैः ।
स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा ।।

x x x x x

संतुष्टालोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक् ।
अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत् ।।

x x x x

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा ।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते ।। भा० म० प० पु०, पृ० 376-377

2· ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम् ।
मृतं तु नित्य याच्ञा स्यात् प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ।।
सत्यानृतं तु वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीचसेवनम् ।। वही, पृ० 376

विवेक :-

योगदर्शन में विवेकज्ञान के लिए यह कहा गया है कि योग के अंगों के अनुष्ठान से, अशुद्धि के नाश होने पर सम्यक् ज्ञान का प्रकाश होता है। इस ज्ञान में दृश्य और दृष्टा का भेद अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और चित्त मुझसे भिन्न हैं - यह ज्ञात होता है [1]।

विवेक की यह बुद्धि प्रह्लाद के वचनों में देखी जा सकती है जिसमें वह अपने पिता को सम्बोधित कर कहता है कि राजन्। मनुष्य का जन्म इस संसार में दुर्लभ है। सुख तो देह और इन्द्रिय का विषय है और वह इनके संयोग से अनुभूत होता है। वह सर्वत्र उसी तरह से स्वत: ही प्राप्त हो जाता है जैसे दु:ख बिना प्रयत्न किए स्वत: ही प्राप्त हो जाता है इसलिए संसार के सुख और दु:ख के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यह आयु के आगम की तरह से है। फिर उसमें इतना सुख और आनन्द भी नहीं है जैसा सुख और आनन्द भगवान् मुकुन्द के चरणाम्बुजों में प्राप्त हो जाता है [2]।

1- पा० यो० प्र० , पृ० 36।

2- कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह ।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ।।
यथा हि पुरुषस्येह विष्णो: पादोपसर्पणम् ।
एदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वर: सुहृत् ।।
सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन योगिनाम् ।
सर्वत्र लभ्यते दैवात् यथा दु:खमयत्नत: ।।
तत् प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्यय: परम् ।
न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।। भा० म० पु० पृ० 360-36।

भक्त प्रहलाद अपनी विवेक की भावना को मनुष्य के जीवन के साथ जोड़ कर देखते हैं और कहते हैं कि मनुष्य का जीवन सौ वर्ष का है। इसमें भी यदि अपनी अज्ञता से कोई आनन्द से सोता है और निश्चिन्त रहता है तो उसका जागरित काल लगभग आधा ही माना जा सकता है। इसमें जो बाल्यावस्था है वह मुग्धावस्था है और बीस वर्षों तक की अवस्था खेल-खेल में ही व्यतीत हो जाती है। बाद का जीवन काम की पूर्ति में, पुत्रों और परिवार के प्रति मोह में तथा बाद का जीवन वृद्धावस्था की कष्टप्रद स्थिति में व्यतीत होता है[1]।

इसलिए जीवन की जब ऐसी निरर्थकता है तो फिर भगवान् के आह्वान के अतिरिक्त और कौन सा रास्ता है। भगवान् को प्रसन्न करने के लिए तो बहुत अधिक आयास करने की भी आवश्यकता नहीं है। सभी प्राणियों में अपना जैसा भाव रखना ही ईश्वर का साक्षात् करना जैसा है। परमेश्वर केवल आनन्द स्वरूप हैं। वे माया के आच्छादन के कारण ही अन्तर्हित हैं। वे अपनी माया के सहयोग से गुणात्मक सृष्टि की सर्जना करते हैं[2]।

1· पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदर्धं चाजितात्मनः।
निष्फलं यदसौ राज्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः।
मुग्धस्य बाल्ये कौमारे क्रीडतो याति विंशतिः।
जरया ग्रस्तदेहस्य यात्यकल्पस्य विंशतिः ॥
दुरापूरेण कामेन मोहेन च बलीयसा ।
शेषं गृहेषु सक्तस्य प्रमत्तस्यापयाति हि ॥ भा० म० पु०, पृ०36।

2· न ह्यच्युतं प्रीणयतोबह्वायासो सुरात्मजाः।
आत्मत्वात् सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः ॥

x x x x

केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः।
माययान्तर्हितैश्वर्य ईयते गुणसर्गया ॥ वही, पृ० 36।

प्रहलाद ने श्री नारद जी को भगवान् की माया का मायात्मक स्वरूप बताते हुए कहा कि स्व और पर की जो विभेद बुद्धि है वह भगवान् अपने माया कृत सामर्थ्य से करते हैं। फिर वे भगवान् जीव को इसी दृष्टि से विमोहित करते हैं। जब कोई भगवान् नारायण का अनुव्रती हो जाता है तो वे इस पशु बुद्धि का विभेदन कर देते हैं। भक्त प्रहलाद अपनी इस विवेक बुद्धि से यह कहते हैं कि जो भगवान् अपने आकर्षण-प्रभाव से सभी को भ्रमित करता है, वह अपने चक्र से चक्रपाणि रूपवाला मेरे चित्त की भ्रमबुद्धि का विभेदन कर दे[1]।

इस रूप में यह है कि भगवान् की अर्चना की जाए। उनके यश का श्रवण, नाम का कीर्तन, पद-सेवा और आत्मनिवेदन किया जाए। इस रूप में यदि भगवान् की भक्ति हो और उनके पद-पदारविन्द में स्वयम् को समर्पित किया जाय तो यही शिक्षा का परम उद्देश्य है[2]।

1· स्व: परश्चेत्यसद्ग्राह: पुंसां यन्मायया कृत: ।
विमोहितधियां दृष्टस्तस्मै भगवते नम: ।।
स यदानुव्रत: पुंसां पशुबुद्धिर्विभिद्यते ।
अन्य एष तथान्योऽहमिति भेदगतासती ।।
स एष आत्मा स्वपरेत्यबुद्धिभिर्दुरत्ययानुक्रमणो निरूप्यते ।
मुह्यन्ति यद् वर्त्मनि वेदवादिनो ब्रह्मादयो ह्येष भिनत्ति मे मतिम् ।।
यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ ।
तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया ।। भा० म० पु०, पृ० 358

2· इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ।। वही, पृ० 357

दर्शन की दृष्टि से परम पुरुष और माया की बद्धता का भी स्वरूप किया गया है। उद्धव द्वारा किए गये प्रश्नों के उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण ने जो व्याख्यान किया उसके अनुरूप न कोई बद्ध है और न कोई मुक्त। यह बन्धन और गुण का कथन केवल गुणों में ही होता है। शोक, मोह, सुख, दुःख यह सब देहाश्रित अनुभूतियाँ हैं। संसार का सम्पूर्ण सृजन मायात्मक है। वास्तव में संसृति नहीं है। जीव मेरा ही एक मात्र अंश है उसमें माया के आवरण से बन्धन है और विपरीत स्थिति में बन्धन मुक्तता है। इसका उदाहरण यह है कि दो सुपर्ण पक्षी एक डाल पर बैठे हैं जो समान रूप से एक दूसरे के सखा हैं। इनमें से एक पिप्पल के दाने खाता है और दूसरा बिना अन्न खाए भी बलवान् बना रहता है[1]।

यह शरीर दैवाधीन है। गुण के द्वारा ही सभी कर्म सम्पादित होते हैं। अबुध इन्हीं गुणों की गुणकर्तृता से स्वयम् को कर्ता मानता है। जो विद्वान्, विचारवान् और विवेकी हैं, वे प्रकृति के इस क्रम में स्वयम् को न बद्ध मानता है और न मुक्त मानता है[2]।

---

1. बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य माया मूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्॥
शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिश्च मायया।
स्वप्नो यथात्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी॥

x x x x

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥ भा०म०पु०, पृ० 688

2. दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा।
वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबध्यते॥ भा०म० पु०, पृ० 687

धर्म :-

आचार्य कौटिल्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र में वेदत्रयी में निरूपित धर्म का कथन किया है। इसमें उन्होंने वर्णाश्रम वासियों के कर्तव्यों को वर्ण तथा आश्रमवासियों का धर्म कहा है। वर्णों में ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए पृथक्-पृथक् आचार का निरूपण है। इसमें अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ-याजन, दान देना और दान लेना ब्राहमण का धर्म कहा गया है और यही इस वर्ण के कर्तव्य भी हैं। इसी तरह से वहाँ पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्मों का कथन कर उसे उनका धर्म बताया गया है। आश्रमवासियों में ब्रहमचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रमवासियों के लिए भी उनके कर्तव्यों का कथन है तथा वही कर्तव्य उनके धर्म हैं[1]। इसके अतिरिक्त वहाँ पर कहा गया है कि अहिंसा, सत्य, शौच, अनसूया, आनृशंसता और क्षमा सभी के लिए समान धर्म हैं[2]।

---

1. स्वधर्मो ब्राहमणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति। क्षत्रियस्याध्ययनं यजनं दानं शस्त्राजीवो भूतरक्षणं च। वैश्यस्याध्ययनं यजनं दानं कृषिपाशुपाल्ये वणिज्या च। शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषा वार्ता कारुकुशीलवकर्म च।

x x x x x

गृहस्थस्य स्वकर्माजीवस्तुल्यैरसमानर्षिभिर्वैवाह्यमृतुगामित्वं देवपित्रतिथिभृत्येषु त्यागः शेषभोजनं च। ब्रहमचारिणः स्वाध्यायोऽग्निकार्याभिषेकौ भैक्षव्रतत्वमाचार्ये प्राणान्तिकी वृत्तिस्तदभावे गुरुपुत्रे सब्रहमचारिणि वा।

x x x x x

वानप्रस्थस्य ब्रहमचर्यं भूमौ शय्या जटाजिनधारणमग्निहोत्राभिषेकौ देवतापित्रतिथिपूजा वन्यश्चाहारः।

x x x x x

परिव्राजकस्य संयतेन्द्रियत्वमनारम्भो निष्किन्चनत्वं संगत्यागो भैक्षमनेकत्रारण्यवासो बाहयाभ्यान्तरं च शौचम्।

2. सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमनसूयानृशंस्यं क्षमा च ।। कौ० अ०, पृ०12-14

श्रीमद्भागवत् पुराण में धर्म के इसी स्वरूप का व्याख्यान किया गया है। जैसे एक स्थान पर सत्य, अहिंसा, तप, शौच, तितिक्षा, ब्रह्मचर्य, त्याग और स्वाध्याय को मनुष्य का धर्म कहा गया है। इसी के साथ भगवान् के यश का श्रवण, कीर्तन, स्मरणादि मनुष्यों के लिए परम धर्म बताया गया है[1]।

इस कथन के क्रम में ही वर्ण और आश्रम के निवासियों के कर्तव्यों को कहा गया है उसे उनका धर्म निरूपित किया गया है। इसी क्रम में स्त्री के, विशेष रूप से पत्नी धर्म का भी कथन किया गया है[2]।

एक अन्य स्थान पर परमार्थ के लिए अपने प्राणों का परित्याग कर देना धर्म कहा गया है। इसीलिए देवताओं की याचना पर वृत्रासुर को मारने के लिए महर्षि दधीचि अपनी अस्थियों का दान कर देते हैं और इसे परम धर्म मानते हैं[3]।

---

1. सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।
   अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्यायआर्जवम् ।।

   x x x x

   श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतांगतेः ।
   सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ।।
   नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।
   त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ।। भा० म० पु०, पृ० 376,687

2. वही, पृ० 377

3. धर्मं वः श्रोतृकामेन यूयं मे प्रत्युदाहृताः ।
   एष वः प्रियमात्मानं त्यजन्तं संत्यजाम्यहम् ।।
   यो ध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान् ।
   ईहेत भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि ।। भा० म० पु०, पृ० 347

क्षमा :-

जहाँ -जहाँ धर्म का आख्यान किया गया है,वहाँ-वहाँ क्षमा का स्थान भी महत्त्वपूर्ण रूप से निर्धारित किया गया है । श्रीमद्भागवत् में ही अहिंसा, सत्य,अस्तेय,असंचय,आस्तिक्य,ब्रह्मचर्य,मौन,स्थैर्य, अभय के साथ की गणना की गई है और इसे योगाङ्गों का एक अंग बताया गया है[1] ।

कथाक्रम के रूप में अनेक स्थानों पर ऐसे सन्दर्भ आए हैं जिससे यह प्रकट हुआ कि श्रीमद्भागवत् के प्रसंग में अनेक बार क्षमा किया गया है । कौरव और पाण्डवों के युद्ध के समय द्रोणपुत्र ने अत्यधिक जघन्य कार्य किया । उसने द्रोपदी के सोते हुए पाँच पुत्रों का वध कर दिया और उनके सिर काट दिए । यह कार्य ऐसा था जो बहुत अधिक निन्दित कर्म था और ऐसे कर्म करने वाले का अवश्य ही वध कर दिया जाना चाहिए । जब द्रोण पुत्र को वध करने की बात चल रही थी तो भीम ने स्पष्ट रूप से कहा था कि जिसने व्यर्थ ही सोते हुए बालकों का वध किया है,उसका वध अवश्य रूप से कर दिया जाना चाहिए[2] । किन्तु द्रोपदी ने तब कहा था कि यह गुरु पुत्र है । इसका वध नहीं किया जाना चाहिए । जैसे मैं अपने अतिप्रिय पुत्रों के शोक में रो रही हूँ,उसी तरह से इसकी माता अपने पुत्र के शोक में न रोए[3] । द्रोपदी की

1· अहिंसासत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचय: ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ।। भा० म० पु०,पृ०704

2· तत्राहामर्षितो भीमस्तस्य श्रेयान् वध: स्मृत: ।
न भर्तुर्नात्मनश्चार्थे योऽहन्सुप्तान् शिशून् वृथा ।। भा० म० पु०,पृ० 6।

x x x

3· मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता ।
यथाहं मृतवत्सार्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहु: ।। वही,पृ० 6।

इस भावना से सहमत होकर भगवान् कृष्ण ने ऐसे गर्हित चरित्र वाले द्रोण पुत्र को क्षमा कर दिया था और कहा था कि यद्यपि यह वध करने योग्य है तथापि इसका वध नहीं किया जाना चाहिए । और इस प्रकार से द्रोण पुत्र को क्षमा कर छोड़ दिया गया [1] ।

इसी प्रकार का एक सन्दर्भ दक्ष के यज्ञ का भी प्राप्त होता है । इस यज्ञ में भगवान् शिव को उनका अंश नहीं दिया गया था और शिवा को उसमें आमन्त्रित भी नहीं किया गया था । तब ,शिवा ने वहाँ जाकर अपने पति का अपमान देखकर अपनी देह का परित्याग कर दिया था जिससे रुष्ट होकर भगवान् शंकर ने यज्ञ विध्वंस कर दिया था तथा दक्ष के शिर का उच्छे-दन कर दिया था । यह स्थिति होने के बाद ब्रह्मादि सभी देवता एकत्रित हुए थे और उन्होंने भगवान् शिव की प्रार्थना कर कहा था कि प्रभु । यह यज्ञ का विध्वंस न हो और कृपा कर इस दक्ष को क्षमा करें । भगवान् शिव ने तब दक्ष को क्षमा कर दिया था [2] ।

1· ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः ।
मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम् ।।
कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं यत्तत्सान्त्वयता प्रियाम् ।
प्रियं च भीमसेनस्य पाञ्चाल्या मह्यमेव च ।।
अर्जुनः सहसाज्ञाय हरेर्हार्दमथासिना ।
मणिं जहार मूर्धन्यं द्विजस्य सहमूर्धजम् ।।   भा० म० पु०,पृ० 61

2· भूयाननुग्रह अहो भवता कृतो मे दण्डस्त्वया मयि भृतो यदपि प्रलब्धः ।

x x x x

क्षमाप्यैव स मीढ्वांसं ब्रह्मणा चानुमन्त्रितः ।
कर्म सन्तानयामास सोपाध्यायर्त्विगादिभिः ।।   वही,पृ० 176

इसी प्रकार का एक सन्दर्भ महर्षि दुर्वासा और राजा अंबरीष का भी प्राप्त होता है। राजा अम्बरी एकादशी का व्रत थे। महर्षि दुर्वासा उनके द्वार पर उपस्थित हुए। राजा ने उनका सत्कार किया। बाद में भोजन के लिए उनके आने का विलम्ब जानकर राजा ने व्रत भंग के भय से जल से पारण कर लिया, जिसे जानकर दुर्वासा बहुत कुपित हुए और वे राजा के वधार्थ उद्यत हुए। तब भगवान् ने अपने भक्त की रक्षा के लिए सुदर्शन चक्र का संचालन किया जिससे भीत हुए दुर्वासा महर्षि को प्रणत होना पड़ा और राजा की प्रार्थना से महर्षि दुर्वासा को प्रणत होना पड़ा और राजा की प्रार्थना से महर्षि दुर्वासा को क्षमादान मिला[1]।

एक अन्य सन्दर्भ इसी प्रकार का और दिया जा सकता है, जिसमें एक बार बलराम ने यमुना का आवाहन किया किन्तु वह नहीं आई। तब बलराम ने अपने हल से उसका कर्षण किया और तब उसने उनके बल को देखकर उनसे क्षमा की याचना की। प्रसन्न होकर बलराम ने तब यमुना को क्षमा कर दिया[2]।

1· सुदर्शन नमस्तुभ्यं सहस्त्राराच्युतप्रिय।
सर्वास्त्रघातिन् विप्राय स्वस्ति भूया इडस्पते ।।

x x x

यदि नो भगवान् प्रीत एकः सर्वगुणाश्रयः।
सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः ।।
इति संस्तवतो राज्ञो विष्णुचक्रं सुदर्शनम् ।
अशाम्यत् सर्वतो विप्रं प्रदहद् राजयाच्ञया ।।
स मुक्तोऽस्त्राग्नितापेन दुर्वासाः स्वस्तिमांस्ततः।
प्रशशंस तमुर्वीशं युञ्जानः परमाशिषः ।। भा० म० पु०, पृ० 443

2· परं भावं भगवतो भगवन् मामजानतीम्।
मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन् प्रपन्नां भक्तवत्सल ।।

वर्जनाएँ :-

समाजिक सन्दर्भ में प्राय: ही कोई ऐसा समाज रहा हो जिसमें किसी न किसी रूप में कुछ वर्जनाएँ न रही हों। जो कार्य व्यक्ति की दृष्टि से और समाज की दृष्टि से उचित नहीं कहे जा सकते हैं, उन्हें प्राय: प्रत्येक समाज वर्जित मानता है। ऐसी वर्जनाएँ श्रीमद्भागवतकालीन समय में भी रही हैं।

बालहत्या :-

श्रीमद् भागवत् में अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं जब या तो बालकों की हत्या की गई अथवा उनकी हत्या का प्रयास किया गया। यद्यपि ऐसी हत्यायें वर्जित ही मानी गईं और व्यक्ति रूप से अथवा सामाजिक रूप से उनका अभिनन्दन नहीं किया गया। उदाहरण के लिए कौरव और पाण्डवों के शत्रुभाव में सबसे जघन्य कार्य द्रोण पुत्र द्वारा किया गया जिसने द्रोपदी के सोते हुए पाँच पुत्रों के शिर काट दिए। यह ऐसा हृदय-विदारक कार्य था जिससे सभी विह्वल और दुखी हुए तथा अर्जुन द्वारा उसे बाँधकर लाया गया। भगवान् श्री कृष्ण ने, द्रोपदी ने, भीम ने उसकी अत्यधिक मात्रा में निन्दा की और उसे वध योग्य बताया[1]।

1· तत आसाद्य तरसा दारुणं गौतमीसुतम्।
बबन्धामर्षताम्राक्ष: पशुं रशनया यथा ।।

x x x

स्वप्राणान् य: परप्राणै: प्रपुष्णात्यघृण: खल: ।
तद्वधस्तस्य हि श्रेयो यद्दोषाद् यात्यध: पुमान् ।।

x x x

तदसौ वध्यतां पाप आतताय्यात्मबन्धुहा ।
भर्तुश्च विप्रियं वीर कृतवान् कुल पांसन: ।।

तथाहृतं पशुवत्पाशबद्धमवाङ्मुखं कर्म । भा0 म0 पु0, पृ0 60-60

दूसरा सन्दर्भ कंस द्वारा किए गए जघन्य कार्य का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें वह अपनी निर्धारित मृत्यु से बचने के लिए देवकी के पुत्रों का वध करता है। देवकी के विवाह के पश्चात् जब वह कंस उसकी विदाई कर रहा होता है तो आकाशवाणी होती है कि रे अबुध ! जिसे तू इतने स्नेह से लिए जा रहा है,इसका आठवाँ गर्भ तुम्हारा वध करने वाला होगा। यह सुनकर वह भयभीत हो जाता है और हाथ में तलवार लेकर अपनी बहिन का वध करने के लिए उद्यत हो जाता है[1]।

इस अवस्था को देखकर वसुदेव ने यह प्रयत्न किया कि वे ज्ञान के द्वारा कंस की दुर्मति का प्रहाण कर सकें और किसी तरह से वह देवकी का वध करने से विरत हो सके। किन्तु ऐसा करने पर भी वह इसके लिए उद्यत नहीं हुआ तब देवकी और वसुदेव ने आपस में विचार कर यह निश्चय किया कि जो भी आँठवाँ पुत्र होगा,वह कंस को दिया जाएगा। यह प्रस्ताव करते हुए वसुदेव ने कहा कि प्रिय। अब तुम्हें आकाश वाणी से कोई भय नहीं है। इसका जो पुत्र होगा,वह तुम्हें समर्पित किया जाएगा[2]।

---

1. पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याह शरीरवाक् ।
   अस्यास्त्वष्टमो गर्भो हन्ता यां वहसे बुध ।।
   इत्युक्त: स: खल: पापो भोजानां कुलपांसन: ।
   भगिनी हन्तुमारब्ध:खड्गपाणि कचे ग्रहीत् ।। भा० म० पु०,पृ० 478
2. प्रसन्नवदनाम्भोजो नृशंसं निरपत्रपम् ।
   मनसा दूयमानेन विहसन्निदमब्रवीत् ।।
   न हि अस्यास्ते भयं सौम्य यद् वागाहाशरीरिणी ।
   पुत्रान् समर्पयिष्ये स्या यतस्ते भयमुत्थितम् ।। वही,पृ० 479

बाद में कंस ने अपने अहंकार और महत्वाकांक्षी भाव से देवकी तथा वसुदेव को कारागार में डाल दिया। उसके बाद उस क्रूर ने क्रम से देवकी के छह बालकों का वध कर दिया और बाद में सप्तम बालक के रूप में कन्या तथा अष्टम बालक के रूप में कृष्ण उत्पन्न हुए[1]।

इसी प्रकार से हिरण्यकशिपु ने भी अपने प्राण जाने के भय से भयभीत होकर अपने पुत्र प्रहलाद को मारने का उपक्रम किया था। कभी उसने उसे हाथी से कुचलना चाहा था, कभी पर्वत से गिराना चाहा था और कभी उसे विष देकर मारना चाहा था। किन्तु भगवान् की कृपा से वह बच गया था[2]।

दुष्टों की इस प्रवृत्ति पर और बालकों की हत्या पर श्री मद्भागवतकार ने क्षोभ व्यक्त किया है और कहा कि कायर कुछ भी कर सकता है। ये सभी कायर थे[3]।

---

1. देवकीं वसुदेवं निगृह्य निगडैर्गृहे ।
   जातं जातमहन् पुत्रं तयोरजनशंकया ।।
   x x x x
   उग्रसेनं च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम् ।
   स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबल: ।।
   x x x x
   एके तमनुरुन्धाना ज्ञातय: पर्युपासते ।
   हतेषु षट्सु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना ।। भा० म० पु०, पृ० 480
2. दिग्गजैर्दन्दशूकैश्च अभिचारावपातनै: ।
   मायाभि: संनिरोधैश्च गरदानैरभोजनै: ।।
   हिमवाय्वग्निसलिलै: पर्वताक्रमणैरपि ।
   न शशाक यदा ....।। वही, पृ० 360
3. किमकार्यं कदर्याणाम् । वही, पृ० 480

चीरहरण :-

भगवान् श्रीकृष्ण का चरित्र अद्भुत और आश्चर्यकर है। उनके चरित्र में कहीं-कहीं ऐसा प्रसंग भी आ जाता है जो अद्भुत होने के साथ-साथ मन में विस्मय भी उत्पन्न करता है। जैसे चीरहरण का प्रसंग ऐसा ही प्रसंग है। श्रीकृष्ण के द्वारा किया गया यह कार्य भी तत्कालीन समाज में उस स्थिति का संकेत करता है जिसमें स्त्रियां विवस्त्र होकर सार्वजनिक स्थलों में जलाशयों में स्नान करती थीं। उनका यह कार्य किसी भी रूप में मान्य नहीं था इसलिए श्रीकृष्ण ने उनका चीर हरण किया।

श्रीमद् भागवत्कार ने इस प्रसंग का उपक्रम करते हुए लिखा है कि हेमन्त के महिने में व्रज की कुमारिकाएँ कात्यायन व्रत का संकल्प लेती थीं। वे प्रातःकाल उठकर सभी मिलकर नदी के तट पर जाती थीं और वहाँ की बालू से देवी की मूर्ति बनातीं थीं। उस मूर्ति को चन्दन, माला, धूप, दीपादि से पूजित करती थीं और फिर नन्द पुत्र श्री कृष्ण को अपने लिए वर रूप में चाहकर मन्त्र का जाप करती थीं[1]।

---

1. हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिका:।
   चेरुर्हविष्यं भुञ्जाना: कात्यायन्यर्चनव्रतम् ।।
   आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे।
   कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम् ।।
   गन्धैर्माल्यै: सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकै:।
   उच्चावचैश्चोपहारै: प्रवालफलतण्डुलै: ।।
   कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि।
   नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नम: ।।
   इति मन्त्रं जपन्त्यस्ता: पूजां चक्रु: कुमारिका:। भा० म० पु०, पृ०523

यह पूजन सम्पन्न करने के पूर्व सभी युवतियां यमुना के तट पर जाकर अपने सभी वस्त्र उतारकर तट पर ही रख देती थीं और भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र का गायन करती हुई, वे स्नान के लिए जल में प्रवेश करती थीं । श्री कृष्ण ने यह देखकर एक बार यमुना तट पर जाकर उन सभी के वस्त्रों का हरण कर लिया और उनसे कहा कि तुम सभी जल के बाहर आकर अपने-अपने वस्त्र ले लो । इस पर वे सभी लज्जित हुईं और उन्होंने बार-बार भगवान् से प्रार्थना की कि वे उनके वस्त्र दे दें । इस पर भी भगवान् ने उनके वस्त्र तभी दिए जब वे जल के बाहर आईं और उन्होंने भगवान् के हाथ जोड़े[1] । बाद में श्री कृष्ण ने कहा कि तुम्हारा यह कार्य ठीक नहीं है क्योंकि विवस्त्र होकर जल में स्नान करना देवताओं की अवहेलना है इसलिए हाथ जोड़कर मुझसे वस्त्र ग्रहण करो [2] ।

---

1. नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत् ।
   वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजह्रुः सलिले मुदा ।।
   x x x x x
   तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः ।
   हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह ।।
   अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम् ।
   सत्यं ब्रवाणि नो नर्म यद् यूयं व्रतकर्शिताः ।।
   x x x x x

2. भगवानाहता वीक्ष्य शुद्धभाव प्रसादितः ।
   स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितम् ।।
   यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम् ।
   बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम् ।।

भा० म० पु०, पृ० 523-524

वेणुगीत :-

कृष्णचरित में वेणुगीत की मधुरता, मादकता और आकर्षकता का अपना महत्त्व है। इस वेणुगीत का यह आकर्षण है कि जब गोपिकाएँ उसे सुनती हैं तब तो वे उस गीत की मदमत्तता से मदमत्त हो ही जाती हैं। जब वे केवल उसकी माधुरी का श्रवण कर चुकने पर पुन: केवल स्मरण मात्र करती हैं तब भी वे आनन्द से विह्वल हो जाती हैं। कभी, जब श्री कृष्ण समक्ष नहीं हैं, तब वे उनकी अनुपस्थिति में परस्पर एकत्रित होकर प्रकृति के मधुमय होने पर उसका वर्णन एक दूसरे के साथ करती हैं। वे स्मरण करती हैं कि श्री कृष्ण मोर मुकुट धारण किये हुए, श्रीकृष्ण कमनीय लीलाएँ करते हैं। स्वर्ण सदृश आभा वाले वस्त्र धारण किए हुए हैं, वैजयन्ती माला उनके गले में शोभित हो रही है। अपनी अधर सुधा माधुरी गोप वृन्दों को पूरित करते हैं और वही कीर्ति उनकी वृन्दावन में छायी हुई है। इस रूप में कृष्ण की वंशी की माधुरी सुनकर आकाश मार्ग से विमान से जाती हुई देवियाँ भी बार-बार पुष्पों की वर्षा करती हैं। नदियाँ आह्लादित होकर अपनी लहरें स्थगित कर भगवान् के पाद युगलों को धारण करती हैं[1]।

---

1. तद् व्रजस्त्रिय: आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्।
   काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्यो ऽन्ववर्णयन्।।

   x x x x

   वर्हापीडं नटवरवपु: कर्णयो: कर्णिकारं बिभ्रद्वास: कनककपिशं वैजयन्ती च मालाम्
   रन्ध्रान् वेणोरधरसुधासुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः

   x x x x x

   कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम्।
   देव्यो विमानगतय: स्मरनुन्नसारा: भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्य:।।

   x x x x

   नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगा:।

रासलीला के आयोजन के अवसर पर जब गोपिकाओं का आहवान् करते हुए भगवान् श्री कृष्ण वेणुवादन करते हैं तब विचित्र स्थिति हो जाती है। वे गोप स्त्रियाँ भगवान् द्वारा गाए वंशी गीत को सुनकर एक-दूसरे का ध्यान दिये बिना भगवान् के पास पहुँची हैं। उनमें से किसी को अपने प्रिय के पास पहुँचने की इतनी त्वरा है कि वह अपने वस्त्र-आभूषण का बिना ध्यान दिए ही श्रीकृष्ण के पास पहुँचती है। कोई अपने शिशु को स्तनपान करा रही थी किन्तु बिना स्तन कराए ही शीघ्रता से वहाँ आ जाती है। कोई अपने पति की सेवा मध्य में छोड़कर और कोई अपना भोजन बीच में छोड़कर चली आती है। कोई अपने आँख के काजल की अस्त-व्यस्तता का ध्यान दिए बिना ही आ जाती है तो कोई व्यस्त आभरण-भूषण वाली ही आती है[1]।

भगवान् यद्यपि सब जानते हैं कि ये सब उनकी माया है, तथापि वे मर्यादा का स्मरण उनको कराते हैं और कहते हैं कि अपने पति की सेवा करना ही स्त्रियों का परम धर्म है। पति ही उनका परम धर्म है। इस पर गोपियाँ कहती हैं कि हम पर आप उसी तरह कृपा करें और हमें स्वीकार करें जिस प्रकार भगवान् अपने भक्त पर कृपा करते हैं[2]।

1· निशम्यगीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥

x x x x

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्॥
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः॥ भा०म०पु०, पृ०533 - 34

2· भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम्॥

इन्द्रमखभङ्ग :-

वर्जनाओं के क्रम में मखभङ्ग किया जाना एक बड़ी वर्जना है जिसे सामान्य रूप से नहीं किया जाना चाहिए । यज्ञीय परम्परा इस देश की प्राचीन परम्परा है और इसका उच्छेद नीति सम्मत नहीं है । श्रीमद् भागवत में श्री कृष्ण के द्वारा व्रजवासियों को ऐसा निर्देश दिया गया, जब वे प्रतिवर्ष इन्द्र के लिए किए जाने वाले यज्ञ यज्ञ से विमुख हुए और उन्होंने गिरिराज की उपासना की तथा उसी को लक्ष्य कर अपना पूजन सम्पन्न किया ।

इस सन्दर्भ में वह कथानक प्राप्त होता है कि एक बार यज्ञ के लिए उद्यत नन्द जी से भगवान् श्री कृष्ण ने पूँछा कि पिता यह किस उत्सव का आयोजन किया जा रहा है, इसका उद्देश्य क्या है, और इसके करने से क्या फल प्राप्त होता है । इसके उत्तर में नन्द ने कहा कि हे तात । भगवान् इन्द्र हैं और उनके प्रतिनिधि मेघ हैं । वे प्रसन्न होकर भूमि में वर्षा करते हैं । उनकी जल वृष्टि से द्रव्य प्राप्त होते हैं और उसी से मनुष्य यज्ञादि कर त्रिवर्ग की सिद्धि करते हैं । जो ऐसे कर्म को नहीं करता वह शोभन कार्य नहीं करता[1] ।

---

1. कथ्यतां मे पित: कोऽयं सम्भ्रमो व उपागत: ।
   किं फलं कस्य चोद्देश: केन वा साध्यते मख: ।।

   x x x

   पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तय: ।
   तेऽभिवर्षन्ति भूतानां प्रीणनं जीवनं पय: ।।
   तं तात वयमन्ये च वार्मुचां पतिमीश्वरम् ।
   द्रव्यैस्तद्रेतसा सिद्धैर्यजन्ते क्रतुभिर्नरा: ।।
   तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफलहेतवे ।
   पुंसां पुरुषकाराणां पर्जन्य: फलभावन: ।।
   य एवं विसृजेद् धर्मं पारम्पर्यागतं नर: ।।
   कामाल्लोभाद् भयाद् द्वेषात् स वै नाप्नोति शोभनम् ।। भा० म० पु०, पृ० 527

इसके उत्तर में भगवान् कृष्ण ने भी नन्द को सम्बोधित कर कहा कि जीव कर्म से जन्म लेता है, कर्म से ही विलीन होता है। सुख, दुख, भय, क्षेमादि कर्म से ही मिलते हैं। यदि कर्मफल के अतिरिक्त कोई ईश्वर है तो वह भी किसी कर्ता को भजता होगा, क्योंकि ईश्वर अकर्ता नहीं हो सकता। सभी जन स्वभाव के वश हैं, स्वभाव का ही अनुवर्तन करते हैं। देव और असुर भी स्वभाव के ही वशीभूत हैं। सत्व, रज, तम ही स्थिति, उत्पत्ति और अन्त के हेतु हैं। रज से अभिप्रेरित होकर ही मेघ जल की वर्षा करते हैं, इसी से प्रजा सिद्धि प्राप्त करती है। इससे इन्द्र क्या करेगा, जिसकी पूजा आप करते हैं। इसलिए आप गो, ब्राह्मण, अद्रि आदि को सन्तुष्ट करने वाला यज्ञ करें। भली प्रकार से अग्नि में हवन करें और ब्राह्मणादिकों को गो, धन आदि का दक्षिणा देकर सन्तुष्ट करें[1]।

---

1. कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ।।
अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम्।
कर्तारं भजते सोऽपि न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः ।।

x x x x

स्वभावतन्त्रो हि जनः स्वभावमनुवर्तते।
स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ।।

x x x x

सत्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पन्त्यन्तहेतवः।
रजसोत्पद्यते विश्वमन्योन्यं विविधं जगत् ।।
रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः।
प्रजास्तैरेव सिद्धयन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति ।।

x x x x

हूयन्तामग्नयः सम्यग् ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः।
अन्नं बहुविधं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणा ।। भा० म०पु०, पृ० 527-528

श्रीकृष्ण के कथानुसार नन्द द्वारा यज्ञ किए जाने पर इन्द्र ने घोर वर्षा की और बाद में भगवान् ने उनका मानमर्दन किया। यही इस यज्ञभङ्ग का उद्देश्य भी था। इसी प्रकार का एक सन्दर्भ भगवान् शंकर के गणों द्वारा दक्ष के यज्ञ के विध्वंस किए जाने का कथानक भी मिलता है। सती के पिता ने यज्ञ का आयोजन किया और उसमें न भगवान् शंकर को बुलाया और न ही सती को आमंत्रित किया। किन्तु पितृगृह के स्नेह के कारण सती वहाँ पर गईं और उन्होंने वहाँ पर यज्ञ स्थान में भगवान् शंकर का भाग न देखकर वह अपमानित हुईं तथा उन्होंने शरीर त्याग दिया। तब भगवान् शंकर बहुत क्रोधित हुए और उन्होंने अपने गणों को यज्ञ को विध्वंस करने के लिए भेजा। शंकर के गण गए और उन्होंने यज्ञ का विध्वंश किया। वहाँ जाकर शिवगणों ने यज्ञशाला विध्वंश कर दी, भोजनालय उखाड़ दिया, कुण्डों को अपवित्र कर दिया। मुनियों को बाँध दिया[1]।

1· भवो भवान्या निधनं प्रजापतेरसत्कृताया अवगम्य नारदात्।
स्वपार्षदसैन्यं च तदध्वरर्भुभिर्विद्रावितं क्रोधमपारमादधे ।।

× × × × ×

केचिद् बभञ्जुः प्राग्वंशं पत्नीशालां तथापरे।
सद आग्नीध्रशालां च तद्विहारं महानसम् ।।
रुरुजुर्यज्ञपात्राणि तथैकेऽग्नीननाशयन् ।
कुण्डेष्वमूत्रयन् केचिद्बिभिदुर्वेदिमेखलाः ।।
अबाधन्त मुनीनन्य एके पत्नीरतर्जयन् ।
अपरे जगृहुर्देवान् प्रत्यासन्नान् पलायितान् ।।
भृगुं बबन्ध मणिमान् वीरभद्रः प्रजापतिम् ।
चण्डीशः पूषणं देवं भगं नन्दीश्वरो ग्रहीत् ।। भा० म० पु०, पृ० 192

बाद में भगवान् श्री शंकर सन्तुष्ट हुए और उन्होंने दक्ष को दूसरे सिर का वरदान देकर क्षमा किया। इन दोनों यज्ञ ध्वंस के कार्ययद्यपि नीति विहीन प्रतीत होते हैं किन्तु इन यज्ञों के मूल में जो नीति-हीनता थी, सम्भवत: उसके प्रहाण के लिए ही इन यज्ञों का विध्वंस किया गया। दक्ष ने शिव को भाग नहीं दिया जो उचित नहीं था, इन्द्र से वर्षा की कामना कर यज्ञ करने का कोई विधान न होने से सम्भवत: श्री कृष्ण ने वैदिक विधि से यज्ञ करने के लिए श्री नन्द को प्रेरित किया।

§3§ <u>रासलीला का सामाजिक स्वरूप</u> :-

श्री मद् भागवत् महापुराण, पुराण परम्परा में एक महनीय ग्रन्थ है। स्वयम् भगवान् व्यास ने इसे निगमकल्पतरू का गलित फल कहा है जो शुक के सुधामृत द्रव से संयुक्त है[1]। इस ग्रन्थ में रास पंचाध्यायी, जो मनमोहन श्री कृष्ण के मनमोहक चरित का अंश है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण और गूढार्थ से भारा हुआ है। इस चरित का व्याख्यान अनेक रूपों में किया गया है और आचार्यों ने अपने मत-मतान्तर दिए हैं।

---

1. निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुका:।।

भा० म० पु०, पृ० 49

श्री शुकदेव महाराज एक स्थान पर भगवान् के अवतार का अभिप्राय निरूपित करते हुए कहते हैं कि उनका लोकावतार राक्षसों के वध के लिए न होकर मृत्युलोकवासियों के शिक्षार्थ है[1]। इसलिए भगवान् का जहाँ रमण करता हुआ स्वरूप दिखाया गया है, वह केवल लोक कल्याणार्थ मानना चाहिए[2] ।

गोपियों के लिए भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ, प्रियतम, प्रिय और रमण शब्द का प्रयोग करते हैं किन्तु कहीं भी वे गोपियों के पति नहीं हैं । श्री कृष्ण ने उन्हें आमन्त्रण देते हुए कहा भी कि तुम मुझसे आगामी रात्रियों में रमण करना । पतित्व का वरदान नहीं दिया । इसलिए रमण करने के लिए आई हुई गोपियाँ विवाहिता हैं, पुत्रवती हैं । तभी वे पुत्रों और पतियों को छोड़कर रासलीला में आती हैं [3] ।

1- मर्त्यावतारस्त्विह: मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभो: ।

वही, पृ० 287

2- एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनुशीलयन् ।

रेमे गोगोपगोपीनां रमयन् रूपवाक्कृतै: ।। वही, पृ० 526

3- परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्य: शिशून् पय: ।

शुश्रूषन्त्य: पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ।।

वही, पृ० 534

भगवान् भी गोपियों को पति और पुत्रों की सेवा करने का उपदेश देते हैं। गोपियाँ भगवान् की नित्यसिद्धा, स्वरूपभूता शक्तियाँ न होकर वे साधिका हैं। ये गोपियाँ भगवान् की स्वानन्दशक्तियाँ हैं। सर्वातिशय प्रेमवती हैं। अविद्या को विदीर्ण करने वाली भगवान् की परमशक्ति स्वरूपा रमणियाँ हैं। किन्तु यह भी कहा गया है कि वे प्रथम रूप से कामिनी हैं और बाद में वे भक्ता और अन्त में मुक्ता हैं[1]। गोपियों के मन में गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी भगवत् पद पदारविन्द में रति होने की इच्छा उन्हें साधिका ही प्रमाणित करता है।

भगवान् का यह विचित्र चरित्र है कि उनकी कृपा कभी विषय प्रदान कर होती है और कभी विषय हरण कर होती है। जब केवल उपदेश से संसार से विरक्ति नहीं हो तो विषय प्रदान से विरक्ति का पथ प्रशस्त किया जाता है[2]। यही कारण है कि गोपियाँ भगवान् के प्रेम में यदि उनका अनुग्रह देखती हैं तो वे उनके वियोग में भी उनकी अनुकम्पा ही देखती हैं[2]। इस रूप में भगवान् की इस लीला का भाव लोक रंजन प्रयोज्य है और समाज के सन्दर्भ में भक्ति का सुगम पथ भी है।

1· अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिता :।
तदनुस्मरणध्वस्त जीवकोशास्तमध्यगन् ।। भा० म० पु०, पृ० 644

2· भा० पु० प्रे०, पृ० 320

3· भा० म०, पृ० 553

समीक्षा तथा निष्कर्ष :-

इस रूप में श्रीमद् भागवत महापुराण का पर्यालोचन करने के पश्चात् जो देखा जा सकता है, वह है इस पुराण का अन्य पुराणों की अपेक्षा विशेष महत्त्वशील होना। इसका यह महत्त्व इसलिए अधिक है क्योंकि जहाँ इस पुराण की भाषा और प्रस्तुति महत्त्वपूर्ण है, वहीं पर श्रीकृष्ण के चरित्र का महत्त्वपूर्ण अंश गायन करने के साथ-साथ इसकी विषय वस्तु सोद्देश्य रूप से ग्रथित की गई है।

इसके साथ-साथ यह भी कहा जा सकता है कि यह पुराण अन्य पुराणों की ही भाँति अपने इष्ट श्री कृष्ण का चरित भक्तिभाव पूर्वक प्रस्तुत करता है तथापि इस पुराण में तात्कालिक सामाजिक सन्दर्भों के संकेत भी प्राप्त हैं। और इस सन्दर्भ में चाहे वर्ण व्यवस्था का स्वरूप हो, चाहे आश्रम व्यवस्था का स्वरूप हो, इस पुराण ने इन स्वरूपों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। उस समय खान-पान, रीति-रिवाज, आचार-विचार आदि का जो क्रम था, उसका भी निरूपण इस पुराण में भली-भाँति किया गया है। समाज के सभी वर्गों की जीवन शैली, उनके आदर्शों और व्यवहारिक रुचियों के विषय में भी यह पुराण पर्याप्त सामग्री देता है तथा अपनी प्रस्तुति के माध्यम से समाज को एक दिशा भी देता है। इसी के साथ यह पुराण पुराने राजवंशों का चरित्र चित्रण कर एक प्रकार से प्राचीन इतिहास की एक विशेष, एक विशेष शैली की झलक भी देता है। इसीलिए यह कहना संगत है कि इस पुराण का सामाजिक सन्दर्भ में पर्याप्त महत्त्व है।

उद्धृत

ग्रन्थ - सूची

1. अथर्ववेद — वेद प्रतिष्ठान, नई दिल्ली ।
2. अथर्ववेद (द्वितीय खण्ड) — संस्कृति संस्थान, बरेली-1975
3. अभिज्ञानशाकुन्तलम् — सं० वासुदेव कृष्ण एवं डा० बाबूराम त्रिपाठी, महालक्ष्मी प्रकाशन आगरा-1981
4. आश्वलायनगृह्यसूत्र — ईस्टर्न बुक लिंकर्स - 1976
5. आनन्द रामायण — पण्डित पुस्तकालय, काशी-1958
6. ईशादिद्वादशोपनिषद् — विद्यानन्द गिरि, कैलाश विद्या प्रकाशन, ऋषिकेश - 1976
7. ऋग्वेद — सायणभाष्य सहितम्
8. ऐतरेयोपनिषद् — गीताप्रेस, गोरखपुर ।
9. कादम्बरी कथामुखम् — राजेन्द्र मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद- 1989
10. कुमार संभवम् — कालिदास
11. कूर्मपुराणाङ्क — वर्ष 71 अंक 1, गीताप्रेस, गोरखपुर
12. कौटिलीय अर्थशास्त्र — वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी - 1962
13. गोपथ ब्राह्मण
14. छान्दोग्योपनिषद् — गीताप्रेस, गोरखपुर ।
15. जैमिनि सूत्र — आचार्य जैमिनि ।
16. तैत्तरीय संहिता
17. तैत्तरीय संहिता

18.	धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग)	हिन्दी संस्करण, डा० दास गुप्ता
19.	धर्मशास्त्र का इतिहास (चतुर्थ भाग)	डा० पांडुरंग वामन काणे, उ०प्र० हिन्दी संस्थान-1984
20.	नारद पुराणम्	
21.	पद्म पुराण	सं० डा० अशोक चटर्जी
22.	पातञ्जलयोगप्रदीप	गीताप्रेस, गोरखपुर सं० 2045
23.	परस्कर गृह्यसूत्र	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी-1973
24.	पुराण विमर्श	बल्देव उपाध्याय, चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी-1967
25.	पुराण तत्त्वमीमांसा	श्रीकृष्णमणि, हि०प्र० मण्डल लखनऊ - 1961
26.	प्रश्नोपनिषद्	गीताप्रेस गोरखपुर
27.	प्राचीन भारत	डा० राजवली पाण्डेय
28.	प्राचीन भारतीय वेशभूषा	डा० मोतीचन्द्र, वाराणसी
29.	पौराणिक कोश	राणा प्रसाद शर्मा, ज्ञानमण्डल, वाराणसी -1986
30.	फूड एण्ड ड्रिंक इन एन्शियण्ट इण्डिया ।	श्री ओम प्रकाश, ओरियण्टल बुकसेलर एण्ड पब्लिशर दिल्ली -1961
31.	ब्रह्मवैवर्त पुराणम्	ब्रह्मखण्ड/ प्रकृति खण्ड
32.	ब्रह्माण्ड पुराण	
33.	बृहदारण्यकोपनिषद् (शांकर भाष्य)	गीताप्रेस गोरखपुर ।

35· श्रीमद्भागवद्गीता — गीताप्रेस,गोरखपुर ।

36· भविष्य पुराण — वैंकटेश्वर प्रेस,मुम्बई-1850

37· भविष्य पुराण एक अनुशीलन — डा० रामजीतिवारी,वैशाली प्रकाशन,गोरखपुर-1986

38· श्रीमद्भागवत पुराण में प्रेम तत्त्व — डा० रामचन्द्र तिवारी,ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली -1982

39· श्रीमद्भागवत्महापुराण — गीताप्रेस गोरखपुर,सं० 2010

40· महाभारत — गीताप्रेस,गोरखपुर - 1955

41· मत्स्य पुराण — पूना सं० - 1907

42· मत्स्य पुराण कल्याण विशेषांक — गीताप्रेस गोरखपुर-1985

43· मत्यपुराण कल्याणाङ्क — गीताप्रेस,गोरखपुर- 1984

44· मनु स्मृति — हिन्दी पुस्तकालय,मथुरा ।

45· मुण्डकोपनिषद् — गीताप्रेस गोरखपुर ।

46· यजुर्वेद — संस्कृति संस्थान,बरेली ।

47· याज्ञवल्क्य स्मृति — सम्पादक-वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, बम्बई - 1926

48· रघुवंशमहाकाव्यम् — कालिदास

49· ब्रह्मवैवर्तपुराण — डा० वैकुण्ठनाथ शर्मा देवनागर प्रकाशन,जयपुर-1989

50· वाचस्पत्यम् भाग-5 — तारानाथ तर्क वाचस्पति

51· वायुपुराण — पूना प्रकाशन -1905

52· वायु पुराणम् — नाग प्रकाशन,दिल्ली -1983

53· विष्णु पुराण (प्रथमखण्ड) — संस्कृति संस्थान,बरेली-1986

54· विष्णु पुराण (प्रथम खण्ड) — संस्कृति संस्थान,बरेली-1986

55· वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश — प्रथम भाग

56· वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति — म0म0 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

57· वैदिक साहित्य संस्कृति और दर्शन — डा0 वि0द0 अवस्थी, सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद-1983

58· स्कन्द पुराण — वेंकटेश्वर प्रेस -1916

59· सत्यार्थ प्रकाश — महर्षि दयानन्द सरस्वती दयानन्द संस्थान सं0 2029

60· संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ — सं0 श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा रामनारायण लाल, बेनीप्रसाद इलाहाबाद-1977

61· शतपथ ब्राह्मण

62· श्वेताश्वतरोपनिषद् — ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली ।

63, शुक्ल यजुर्वेद

64· शुक्रनीतिसार — कलकत्ता -1990

65· षोडस संस्कार विधि — पं0 भीमसेन शर्मा ब्रह्मप्रेस इटावा -1945

66· हिन्दू सभ्यता — डा0 राधाकुमुदमुकर्जी (हिन्दी-संस्करण) राजकमल प्रकाशन 1966

67· हिन्दू संस्कार — डा0 राजबली पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज-1966